जैनेन्द्र की कहानियाँ

जैनेन्द्र-साहित्य [१६]

जैनेन्द्र-साहित्य [१६]

जैनेन्द्र की कहानियाँ

[पाँचवाँ भाग]

['ध्रुवयात्रा', 'एक रात', 'रत्नप्रभा'
और अन्य कहानियाँ]

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

पूर्वोदय प्रकाशन
७. दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण
१९५३

मूल्य
साढ़े तीन रुपए

पूर्वोदय प्रकाशन, ७ दरियागंज, दिल्ली की ओर से दिली
द्वारा प्रकाशित और न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में

परदेशी

: १ :

[illegible] पगडन्डियों का सन्धिस्थल। जरा पीछे एक कुटी। एक पग-
[illegible] ी से एक स्त्री जा रही है। दूसरी से एक पुरुष आता है।

पुरुष, "भद्रे, मैं दूर से आता हूँ। मुझे प्यास लगी है।"

महिला पुरुष की ओर देखती है।

[illegible], "यहाँ पानी मिलेगा ?"

महिला, "पानी !" (देखती है।)

पुरुष, "मैं प्यासा हूँ।"

महिला, "मेरे हाथ रीते नहीं हैं। आँचल में फूल हैं। मैं अभी [illegible]कर पानी दूँगी। वहाँ छाँह है, बैठें।"

पुरुष, "फूल कहाँ लिए जाती हो ?"

महिला, "वह सामने देवालय दीखता है। वहाँ मैं इनका [illegible] — अभी लौटकर आती हूँ।"

पुरुष "भद्रे, मुझको प्यास लगी है। फूल मुझे दे जाओ, [illegible] ला दो।"

महिला, "कहती हूँ, मैं अभी आती हूँ। देर नहीं लगाऊँगी।"

पुरुष, "नहीं। फूल रहने दो और पानी ला दो। फिर फूल ले लेना।"

महिला, "बहुत प्यास लगी है? तनिक देर ठहर जाओ। मैं अभी लौट कर आती हूँ।"

पुरुष, "नहीं। फूल मुझको दे दो और पहले पानी ला दो। मैं बहुत दूर से आ रहा हूँ।

महिला, "बटोही, मैं सवेरे ही भगवान् को फूल चढ़ाती हूँ। आज देर हो गई है। मेरा जी अच्छा नहीं था! कहती हूँ, मैं अभी आती हूँ। तब तक तुम छाँह में सुस्ताओ। बहुत दूर से आ रहे हो।"

पुरुष, "लाओ मुझे दो फूल। मैं चढ़ा दूँगा।"

महिला, "नहीं, नहीं,—"

पुरुष, "मैं बहुत अच्छी तरह देवता पर फूल चढ़ाऊँगा।

महिला, "तुम कैसे बटोही हो! चलो, मुझे जाने दो।" (जाना चाहती है।)

पुरुष, "भद्रे, मैं प्यासा हूँ। वे कौन देवता हैं जो फूल चाहते हैं? मैं पानी चाहता हूँ, उससे ज्यादा वे फूल चाहते हैं?"

महिला, "बटोही, तुम कैसी बात करते हो? मुझे जाने दो।"

पुरुष, "तुम्हारे देवता कैसे हैं? मुझसे अच्छे हैं?"

महिला, "बटोही, हटो मुझे जाने दो।"

पुरुष, "बटोही को पानी देना छोड़कर देवता पूजने जाओगी, भद्रे?"

महिला, "बटोही तुम बड़े अनजान हो। तुम कौन हो? बड़े निश्शङ्क हो!"

पुरुष, "परदेसी हूँ। बहुत दूर से आ रहा हूँ। बहुत देश और बहुत नाम पीछे छोड़ता आ रहा हूँ। तुमसे शङ्का करूँ ?"

महिला, "मेरे पास फूल हैं और मेरे हाथ फँसे हैं। मुझे जाने दो, परदेसी ! लौटकर मैं तुम्हें ठण्डा पानी दूँगी।"

पुरुष, "फूल भी मुझे दे दो।"

महिला, "चुप रहो, बटोही। तुम ढीठ हो।"

पुरुष, "मैं प्यासा हूँ, भद्रे !"

महिला, "प्यासे हो तो मैं नहीं जानती।"

पुरुष, "देवता को तुम कब से जानते हो ? क्या वे प्यासे हैं ? सुनता हूँ, इस लोक के देवता पत्थर होते हैं।"

महिला, "चुप रहो, बटोही।"

पुरुष, "तो मैं चुप रहूँ और चला जाऊँ, यही तुम कहती हो ?"

महिला, "नहीं,—नहीं, यह नहीं। पर अभी बैठो। मैं शीघ्र आऊँगी।"

पुरुष, "तो मैं चला ही जाता हूँ।"

महिला, "मैं बहुत जल्दी लौट आऊँगी। सच, देर नहीं होगी।—कह तो रही हूँ।"

पुरुष, "जैसे मैं चलता चला आ रहा हूँ, वैसे ही यहाँ से भी चलता चला जाऊँगा। जाओ, तुम देवता के पास जाओ।"

महिला, "बटोही, तुम हठी हो। मैं कहती हूँ, मैं अभी आ जाऊँगी।"

पुरुष, "हाँ, तुम जाओ। मैं अपनी बाट चला जाऊँगा। मुझे तो चलना ही है।"

महिला, "प्यासे जाओगे ?"

पुरुष, "क्या उपाय है ? तुम तो देवालय जा रही हो।"

महिला, "हाँ, मैं देवालय जा रही हूँ।"

पुरुष, "तो जाओ।"

महिला, "लेकिन तुम बैठो।"

पुरुष, "नहीं भद्रे, तुम जाओ, मैं भी जाता हूँ।"

महिला, "तो,—बहुत प्यासे हो ?"

पुरुष, "बहुत ? नहीं—"

महिला, "तो लाती हूँ पानी। लो।" महिला ने फूलों-भरा आँचल बढ़ाया कि परदेसी फूल ले। परदेसी यों ही खड़ा रहा।

महिला, "अब लो इन्हें, मैं पानी लाऊँ।"

पुरुष, "कहाँ लूँ ? मेरे पास कोई वस्त्र तो नहीं है।"

महिला, "तो क्यों माँगते थे ?"

पुरुष, "कितने फूल हैं ? अंजली में आ जायँगे।"

महिला, "नहीं आयँगे।"

पुरुष, "तब इतने फूल बताओ कैसे लूँ ?"

महिला, "उत्तरीय में ले लो।"

पुरुष, "उत्तरीय में ? अच्छा लाओ।"

महिला, "लेकिन एक बात है। तुम यहीं रहना, इसी जगह। और इन्हें खराब मत करना। ये पूजा के काम के हैं। और तुम सावधान नहीं हो।"

पुरुष, "मैं यहीं रहूँगा। खराब नहीं करूँगा, मैं सावधान रहूँगा।"

महिला, "बटोही, फिर तुम पानी पीकर चले जाओगे ?"

पुरुष, "नहीं तो क्या—"

महिला, "कहाँ जाओगे ?"

पुरुष, "पता क्या कि कहाँ-कहाँ जाऊँगा।

महिला, "पता नहीं है, कहाँ-कहाँ जाओगे ? अच्छा, आश्रय कहाँ पाओगे ? बस्ती में ?"

पुरुष, "आश्रय ! बस्ती ! क्यों ?"

महिला, "बहुत दूर से आ रहे मालूम होते हो। ज़रा विश्राम करके जाना।"

पुरुष, "लेकिन तुम तो देवालय जाओगी ?"

महिला, "देवालय से तुरन्त ही लौट आऊँगी।"

पुरुष, "अच्छा।"

पुरुष अपने उत्तरीय में फूल ले लेता है। महिला जाती है। पुरुष मुस्कराता रह जाता है। कुछ देर बाद महिला एक पात्र में जल लेकर आती है।

महिला, "लो !"

पुरुष, "ये भी तो तुम लो।"

पुरुष महिला के ऊपर फूल बिखेर देता है। फिर हाथ बढ़ाकर पात्र लेता है। लेने-लेने तक में पात्र महिला के पैरों के पास गिर जाता है। महिला अप्रसन्न होती है, कुछ प्रसन्न भी होती है।

महिला, "तुम बड़े खराब हो जी। मैं और फूल कहाँ से लाऊँगी ?"

पुरुष, "और फूल क्यों लाओगी ?"

महिला, "देवता की पूजा कैसे होगी ?"

पुरुष, "और यह पूजा किसकी हुई ?"

महिला, "तुम देवता हो ? आये बड़े देवता !"

पुरुष, "तुम तो हो। तुम पर फूल भी बिखरे, जल भी चढ़ गया।"

महिला, "चुप रहो।"

पुरुष, "रुष्ट हो ? अच्छा, मुझे क्षमा करो। लो, फूल मैं उठाये देता हूँ। पुरुष झुककर महिला के पैरों पर और आस-पास पड़े हुए फूलों को इकट्ठा करता है।"

महिला, "हैं ! हैं ! धरती के फूल !"

पुरुष, "तो क्या हुआ ? फूल तो फूल हैं।"

महिला, "वे अब किस काम के रह गये हैं ?"

पुरुष, "वे अब बड़े काम के हो गये हैं।"

महिला, "मैं अब खाली हाथ देवालय कैसे जाऊँ ?

पुरुष, "मत जाओ।"

महिला, "तुम बड़े दुष्ट हो।"

पुरुष, "तो दुष्ट अपनी राह जाता है। जाऊँ ?"

महिला, "जरा विश्राम करके जाना।"

पुरुष, "अच्छा।"

[दोनों कुटी की ओर लौटकर जाते हैं।]

: २ :

महिला अकेली रहती है। उसकी अभी नई उम्र है। बस्ती से बाहर अलग अपने आप रहती है।

अतिथि ने पूछा, "तुम यहाँ अकेली क्यों रहती हो ? माता-पिता नहीं है ?"

महिला, "हैं। उन्होंने मुझे अकेले रहने को छोड़ दिया है।"

पुरुष, "वे बस्ती में रहते हैं ? उन्होंने तुम्हें अकेले रहने को क्यों छोड़ दिया है ?"

महिला, "हाँ, बस्ती में रहते हैं। बस्ती में भले आदमी रहते हैं। मैंने सुना है, मैं भली नहीं हूँ। इस वास्ते उन्होंने छोड़ दिया है।"

पुरुष, "तुम क्यों भली नहीं हो ?"

महिला, "ठीक मैं नहीं जानती । कुछ दिन हुए, एक कुमार आया था। वह मुझे एक उद्यान में मिला था। वह बहुत अच्छा था और यह याद नहीं रखता था कि दुनिया भी है। मैं भी तब दुनिया को भूल जाती थी। मैं रोज उद्यान जाती थी कि कहीं कुमार मिल जाय। माने कहा, 'यह भला नहीं है। तू वहाँ मत जाया कर। वह लड़का बड़ा खराब है।' मैंने कहा, 'अम्मा जी, वह खराब नहीं है।' उन्होंने कहा, 'चल दूर हो, अब वहाँ मत जाना।' मैं वहाँ नहीं गई। पर दिन मुझे फीका लगता था और रात को नींद कठिनाई से आती थी। किसी भी काम में जी नहीं लगता था। सब सूना-सूना लगता था, पर, माँ-बाप की आज्ञा तोड़ कर मैं जाना नहीं चाहती थी। माँ-बाप मुझे चाहते थे,—मेरी भलाई चाहते थे । ऐसे कई दिन बीत गये । मेरे मन पर पत्थर-सा बैठता जाता था। मैं क्या करूँ ?—एक रोज मुझे दिखाई दिया कि कुमार हमारी खिड़की की तरफ देख रहा है । मैं खिड़की के पास नहीं गई, पर दूर से छिपकर देखती रही। कुमार वहाँ बहुत देर तक खड़ा रहा। कभी थककर वह टहलने लगता था । फिर वहीं आकर खड़ा हो जाता था। मुझे उसपर बड़ी दया आई। मन को बड़ा बुरा मालूम हुआ। मैंने खिड़की के पास आकर कहा, 'कुमार, तुम चले जाओ।' कुमार ने कहा, 'मैं मर रहा हूँ।' मैंने कहा, 'कुमार मेरा जी भारी है। अम्माजी नाराज़ होती हैं। तुम चुप चले जाओ ।' कुमार ने कहा, 'मेरा जी बड़ा व्याकुल है। ऐसे मैं कैसे जिऊँगा ?' मैं फिर नहीं बोल सकी। मेरी आँखों में आँसू आ गये । कुमार भी रोने लगा। तब मुझ से सहा नहीं गया और मैं लौट आई। अम्माजी को इस बात की सूचना हुई। उन्होंने कहा, 'तू वहाँ कुमार से बातें करती थी ? वह बड़ा खराब आदमी है।' मैंने कहा, 'अम्मा, कुमार

ख़राब नहीं है।' उसके बाद कई दिनों तक मैं देखती रही कि कुमार आता है। पर मैं खिड़की पर नहीं जाती थी। मेरा मन भीतर से भर-भर आता था, पर मैं रोक लेती थी। सोचती थी—अम्मा जी कहती हैं कि यह ठीक नहीं है, और मैं कोई बुरा काम नहीं करूँगी। मेरा मन सबेरे से उसी घड़ी की बाट देखता रहता था जब कुमार आता था। पर जब घड़ी पास आ जाती तब मैं घबरा जाती थी। उससे पहले मैं बार-बार खिड़की के पास जाती थी। मैं जानती थी कि कुमार जब नहीं है तब खिड़की के पास जाने में बुराई नहीं है। उस में फ़ायदा कुछ नहीं था, पर हर्ज भी कुछ नहीं था और मेरा मन बहलता था। पर जब कुमार वहाँ दिखाई दे जाता तब मैं भाग आती थी और फिर खिड़की के पास नहीं जाती थी। न जाने तब चित्त की हालत कैसी रहती थी! फिर मुझको नहीं पता, क्या हुआ। एक दिन मेरी माँ ने मुझे बहुत धमकाया और कहा, 'निकल जा मेरे यहाँ से, कुलच्छनी।' माँ मुझे बहुत प्यार करती थी। पर जब वह कहती थी कि कुमार बुरा आदमी है तब मुझे बुरा लगता था। मैं कहती थी, 'कुमार बुरा नहीं है।' इसपर वह मुझे मारती थी। तब मैं ज़ोर से कहती थी, 'कुमार बहुत अच्छा है।' तुम्हीं बताओ, मुझको कुमार अच्छा दिखता था तब मैं उसको बुरा कहा जाता हुआ कैसे सुन सकती थी? सो सब मैं सह लेती थी, पर कुमार के सामने नहीं होती थी। एक दिन मुझे माँ ने धक्का देकर घर से बाहर कर दिया। बाहर खड़ी-खड़ी मैं सोचने लगी, क्या करूँ। मैं माँ के मन को जानती थी। मुझ से उनका जी बड़ा क्लेश पाता था। मैं उनको दुःख देना नहीं चाहती थी। मैं कैसे कहती कि माँ, मुझे भीतर ले लो। मैं यह नहीं कह सकती थी और मैं चली आई। तभी से मैं यहाँ रहती हूँ। बटोही, मैंने सच-सच

बात कह दी है। अब तुम देख लो कि मैं भली नहीं हूँ। कुमार फिर मुझे नहीं मिला। न जाने वह कहाँ है। बटोही, मुझे अकेलापन अच्छा नहीं लगता है। देखो परदेसी, तुम्हें बस्ती के लोग यहाँ आने के कारण भला नहीं कहेंगे। मुझे वे बहुत खोटी-खोटी बातें कहते हैं। पर मैं नहीं चाहती कि तुम्हें भी कोई खोटी बात कहे। तुम परदेसी हो। तुम्हें लोगों की खोटी बात की परवाह न हो तो, परदेसी, तुम कुछ रोज़ यहाँ रहकर चले जाना। मेरा जी लग जायगा। यहाँ कौन कब आता है?"

पुरुष, "मैं समझा—"

महिला, "तुम क्या समझे परदेसी, और तुम चुप क्यों होगये?"

पुरुष, "कुछ नहीं।...देखो, मैं प्रवासी हूँ। मुझको खरा-खोटा नहीं छूता। मैं यहाँ कुछ रोज़ रहूँगा।"

महिला, "परदेसी, तुम किस देश के वासी हो? तुम्हें खरा-खोटा नहीं छूता?"

पुरुष, "मैं अनेक देश-देशान्तरों में घूमा हूँ। पर यह तुम लोगों का देश न्यारा है। और सब जगह तो ऐसे खरे-खोटे की बात नहीं है। भद्रे, क्या तुमको पक्का मालूम है कि तुम खोटी हो?

महिला, "हाँ, मैं ऐसा ही जानती हूँ। नहीं तो लोग मुझे क्यों दुरदुराते?"

पुरुष, "एक और लोक भी है। इस तुम्हारे लोक से वह अगला है। वहाँ सब उलट जाता है। जो यहाँ दुरदुराया जाता है, वहाँ उसका आदर होता है। यहाँ का दुखी वहाँ सुख पाता है। तुम उस लोक के बारे में कुछ नहीं जानतीं?"

महिला, "क्या परलोक?"

पुरुष, "हाँ, परलोक।"

महिला, "मैंने सुना है, परलोक होता है । पर मैं कुछ जानती नहीं । सुना है, यहाँ से लोग वहाँ जाते हैं ।"

पुरुष, "जो सुना है वह मिथ्या नहीं है । अच्छा, तुम कुमार को पहचानती हो ?"

महिला, "परदेसी, तुम कैसी बात करते हो ? कुमार को नहीं पहचानूँगी ?"

पुरुष, "लेकिन सच, पहचानती हो ?"

महिला देखती है । देखती है कि जो सामने है वह कुमार ही तो है !

महिला, "तुम ! परदेसी !"

पुरुष, "भद्रे, क्या आश्चर्य है ? मैं ही तो हूँ ।"

महिला, "तुम बड़े खराब हो !"

पुरुष, "मैं परदेसी हूँ, रानी, मैं प्रवासी हूँ ।"

महिला देखती है । देखती है कि सामने कुमार कहाँ, परदेसी ही तो है !

: ३ :

एक पर्वत-शिखर । नितान्त हिममण्डित । पुरुष बादल के एक घोड़े की अयाल थामे खड़ा है । घोड़े के मुख में फेन है, देह में विद्युत् । पुरुष अपार दूर तक बिछी पृथ्वी को देख रहा है । वह प्रतीक्षा में है । उसे शायद कहीं दूर जाना है ।

[महिला का प्रवेश]

महिला, "आखिर तुम आ गये !

पुरुष, "आओ । देखो, मेरी यात्रा प्रस्तुत है ।"

महिला, "तुम रात न जाने कहाँ विलीन हो गये । मैं खोजती फिरी । मैं रात सोई नहीं । जो यन्त्र तुमने मुझे अपने हृदय में धारण

करने को दिया था उससे मैंने तुम्हारा पता बहुत पूछा; उसने भी नहीं बताया। अब सवेरे आखिर उसने बताया कि तुम यहाँ हो। मैं भागी आ रही हूँ। परदेसी, तुम्हें क्या हुआ है? तुम्हें ऐसा नहीं चाहिए। मुझे तुमने बेहाल कर दिया।...तुम क्या कहीं जा रहे हो?"

पुरुष, "हाँ, मैं जा रहा हूँ।"

महिला, "कहाँ जा रहे हो?"

पुरुष, "तुम्हें क्या बताऊँ, भद्रे। अपने भ्रमण पर चला जा रहा हूँ।"

महिला, "कब लौटोगे?"

पुरुष, "छिः! छिः! कैसी बात करती हो?"

महिला, "नहीं लौटोगे?"

पुरुष, "कैसी बच्ची—ऐसी बात करती हो! अरे लौटना कहीं होता है?"

महिला, "मुझे छोड़कर चले जाओगे?"

पुरुष, "देखो यह घोड़ा मुझे ले जाने के लिए आ पहुँचा है। देखो, यह कितना बेताब है। जो घड़ी जाने की बँध गई है उसी पल यह मुझे उड़ा ले जायगा। क्षण-भर की देर न होगी। मैंने कहा न था, भद्रे, कि मैं परदेसी हूँ, प्रवासी हूँ। कूच का समय आया तब मैं क्या ठहरूँगा? इसमें तुम चिन्ता क्यों करती हो?"

महिला, "अरे परदेसी, क्या तुम जानते हो, मेरी क्या हालत है? तुमने मुझे ममता में क्यों डाला? हाय! मैं सर्वस्व गँवा बैठी और तुम जा रहे हो?"

पुरुष, "भद्रे, दुनिया की जैसी बातें न करो। कोई कुछ नहीं

गँवा सकता, और क्लेश तो भूल है। सबके कूच का पल बँधा है, और मैं तो प्रवासी हूँ।"

महिला, "परदेसी, निठुराई मत करो। मेरी हालत देखो। मैं तुम्हारा, नाम भी तो नहीं जानती! मैं क्या करूँगी? कैसे करूँगी?"

पुरुष, "नाम-धाम दुनियादारी की बातें हैं। और मैं परदेसी हूँ। मेरा नाम क्या होगा?"

महिला, "ओ परदेशी, मुझे ठगकर तुम कहाँ जाते हो? मैं ठगी गई, और मैंने बुरा नहीं माना। पर अब तुम जाते कहाँ हो? मेरा सब-कुछ तुम्हारा है। वह छोड़कर मत जाओ। छूटकर मैं कहाँ रहूँगी?"

पुरुष, "भद्रे, दुख मत करो। देखो, यह क्षण अन्तिम है। घोड़ा सुम पटक रहा है। जाने का पल अब आया, अब आया। पर क्या तुम्हें दुखी देखते हुए जाना होगा? रानी, हँसो कि मैं जाता हूँ। क्या हमने परस्पर कम सुख जाना है? उसको जी में बसा कर हम किस दुख को चुनौती नहीं दे सकते? क्या उस सुख को हम इतना हलका बना दें कि कोई भी दुख उस पर भारी हो जाय? हमारा संयोग सब वियोगों से सत्य है। संयोग क्षण-कालिक था, वियोग चिर-कालिक है। फिर भी संयोग ही सत्य है।"

महिला, "परदेसी, तुम्हारी बात से मुझे डर होता है। तुम कौन हो? तुम्हारा क्या नाम है? नाम मुझे बताये जाओ। इतना सहारा तो मुझे दो।"

पुरुष, "मैं परदेसी हूँ, नाम-धाम सब पीछे छोड़ता जाता हूँ। अनन्त नाम मैंने धारे हैं, पर वे अलग ही रहते हैं। संज्ञातीत परदेसी की तुम क्या याद रक्खोगी? उसे 'परदेसी' ही जानो।

याद कुछ मत रक्खो। याद दुख है। वे संयोग-सुख के क्षण ही अपने साथ शाश्वत बना-कर रहो जो हमने अपने को परस्पर खोकर पाये हैं।"

महिला, "ओ निर्दय! निर्मम!"

पुरुष, "रानी, क्या अपने ही सुख के प्रति हम अकृतज्ञ बनें? तुम्हारा सुहाग उन्हीं सुख के क्षणों में है जो अमर हैं। मैं घूमता ही रहता हूँ। उसी घूमने में अब आगे बढ़ा जा रहा हूँ। तुम्हें बताऊँ कि तुमसे कितना जीवन लिये जा रहा हूँ? पर उसकी बात नहीं करूँगा, कहकर उसे हलका नहीं करूँगा।"

महिला, "हाय, मैं क्या करूँ? तुम बड़े निष्ठुर हो।"

पुरुष, "निष्ठुर? रानी तुम नहीं जानतीं।"

महिला, "तब मुझे छोड़े क्यों जाते हो, राजा? मत जाओ, मत जाओ।"

पुरुष, "रानी, रोओ नहीं। हँसो कि मैं जाता हूँ। देखो, तुम्हारी उन दिनों की हँसी मेरे भीतर अब भी जीवित है। वह चाँदनी-सी तुम्हारी हँसी मुझ से खोई नहीं जायगी। उसी को थामकर मैं तुम्हारे रोने को हँसकर सह जाता हूँ। मत रोओ, रानी। रोना क्रूरता है।"

महिला, "मैं नहीं जानती थी, तुम ऐसे हो!"

पुरुष, "रानी!"

महिला, "मैं जान रही हूँ, तुमने मुझे खिलौना समझा। हाय! मैं क्या करूँ?"

पुरुष, "(घोड़े पर चढ़ने को उद्यत होकर) रानी, मैं यह नहीं सहना चाहता। क्या वह तुम्हारी प्रतिमा मैं अपने भीतर फीकी होने दूँ जो मग्न है और स्निग्ध है, जो खिलते फूल की तरह मेरे

भीतर सदा खिलती हो जायगी ? नहीं, वह प्रतिमा मुझ से नहीं छिन सकती। रानी, तुम वही हो। यों विलाप करने वाली अबला तुम नहीं हो। उठो, प्रसन्न होओ। माता को प्रसन्न रहना चाहिए।"

महिला, "माता की बात करते तुम को दया क्यों नहीं आती ? अरे, उसका बच्चा किसे अपना बाप कहेगा, यह तक क्या वह माँ जानती है ?"

पुरुष, "भद्रे, यह क्या कहती हो ?"

महिला, "क्या कहती हूँ ? यह पूछते हुए तुम लजाते क्यों नहीं हो ?"

पुरुष, "ओह ! मैं समझा। तुम्हारी दुनिया में पिता का नाम ओढ़े हुए बच्चे होते हैं। यह कैसी तुम्हारी दुनिया है ?"

महिला, "ओ परदेसी, कैसी निर्लज्जी बात करते हो ?"

पुरुष, "बिना बाप के नाम के बच्चे क्या यहाँ होते ही नहीं ? यह जगत् क्या इतना अभागा है ?"

महिला, "बेहया मत बन जाओ, परदेसी !"

पुरुष, "लेकिन क्यों ? मैं कई लोकों में घूमा हूँ। इसी तरह दुनिया के एक पुरुष का नाम मैंने अनेक लोकों में सुना। जहाँ सुनी बड़ाई ही सुनी। वह बिन बाप था। तुम उसका नाम नहीं जानतीं ? मैंने सुना था कि इस दुनिया के सब लोग उसे जानते हैं और बड़ा मानते हैं। यीशु को तुम नहीं जानतीं ?"

महिला, "ओ परदेसी !"

पुरुष, "यह कैसी तुम्हारी अभागी दुनिया है ? माँ यहाँ इस-लिए दुखी होती है कि माँ है ! छिः ! छिः ! यह कैसी निकम्मी बात है।"

महिला, "परदेसी, मैं नहीं जानती, तुम किस लोक की बात करते हो। मुझे अपनी सुध नहीं है। मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैंने तुम्हें पाया, यह बहुत पाया। तुम जाते हो? अच्छा जाओ। तुम मेरे लिए बहुत हो। तुम्हें पाकर मैं अपने भाग्य पर शंकित हो-हो जाती थी। मैं क्या इतने के योग्य थी? अगर तुम जाते हो तो मैं उस भाग्य को कोसूँगी नहीं। तुम जाओ। पर मैं सोचती थी, कहीं तुम ठहर जाओ तो कैसा हो! लेकिन, मैं भाग्य से अपनी पात्रता से इतना अधिक पा चुकी हूँ कि और कुछ भी उससे माँगने का मेरा मुँह नहीं है। मैं नहीं सोचती कि मैं दिन कैसे काटूँगी। मैं कोई स्वार्थ की बात नहीं सोचती। मैंने सब तुम पर वार दिया। अब क्या मैं यह सोचूँ कि तुम मेरे लिए क्या छोड़कर जा रहे हो?

पुरुष, "धन?"

महिला, "नहीं, नहीं। धन मुझे नहीं चाहिए।"

पुरुष, "भद्रे—धन"—

महिला, "नहीं, नहीं। मुझे नहीं चाहिए।"

पुरुष, "भद्रे, धन मैल है और प्रेम निर्मल है। रानी, यह मैल तुम्हारी दुनिया का शाप है। मैं परदेसी हूँ, मैं उस मैल से मैला नहीं हूँ। मैं—"

महिला, "नहीं, मैं वह कुछ नहीं सोचती। पर मेरा बच्चा दुनिया का अपमान न सहेगा। तुम दुनिया को नहीं जानते। मैं अपमान को उसे छूने नहीं दूँगी।"

पुरुष, "अपमान! रानी तुम नहीं जानतीं। दुनिया का अपमान विनीत मस्तक पर स्वीकार करने से पवित्र बनता है। वह सम्मान हो जाता है। तुम यह समझ कर भली भाँति पहचान

लो। और सुनो, तुम्हारा बिना बाप का बच्चा दुनिया का राजा होगा। ऐसा राजा होगा जिसके परों तक दुनिया का मुकुट नहीं पहुँच सकेगा। रानी, यह ब्रह्माण्ड बड़ा है और तुम्हारी दुनिया बहुत क्षुद्र है।"

महिला, "नहीं, नहीं, नहीं। तुम नहीं जानते। मैं अपने बच्चे का अपमान नहीं सहूँगी। मैंने दुनिया का सब खोटा सुना। पर अपने बच्चे का खोटा नहीं सहूँगी। ऐसा ही होगा तो मैं उसे जनमते ही मार दूँगी।"

पुरुष, "ओह! ऐसी तुम्हारी मूढ़ दुनिया! वह अपने चलन से माँ के दिल में बच्चे के लिए ऐसे हिंस्रभाव पैदा कर सकती है! रानी, यह तुम क्या कहती हो?"

महिला, "तुम नहीं जानते, तुम नहीं जानते, परदेसी।"

पुरुष, "मैं तुम्हारी दुनिया को नहीं जानता; पर तुम्हारी दुनिया भी बड़ी दुनिया को नहीं जानती, रानी।"

महिला, "परदेसी, तुम कौन हो? तुम्हें देखकर मेरी आँख झिपती है। मुझे बच्चे के बाप का नाम नहीं चाहिए। पर बताओ, तुम कौन हो। मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ। तुम जाओ, मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ। तुम चले ही जाओ। यह दुनिया भी तुम्हारे योग्य नहीं है। मैं यहाँ जैसे-तैसे रह लूँगी, पर तुम जाओ। तुम वहाँ के लिए हो, जहाँ क्षुद्रता नहीं है। तुम जाओ, लाख बरस जिओ और सदा राजा रहो, मेरे राजा! मैं आज अपने सौभाग्य को स्वीकार करती हूँ। उसको लेकर लोक का अपमान भी स्वीकार करूँगी। अपने महा-सौभाग्य की बात को भीतर लेकर विनीत रहूँगी और मेरे राजा, तुमसे कहती हूँ डूबूँगी नहीं।"

पुरुष, "तुम्हारा पुत्र निष्कलुष हो, प्रेम से दृढ़ हो और जीवन में जयी हो।"

महिला, "पर मुझे बता जाओ, तुम कौन हो ? मुझे अपने लिए बता जाओ।" (पुरुष, का चरण रज लेती है।)

पुरुष, "मैं, (बिजली तड़पती है । बादल का घोड़ा निनाद करता है, पुरुष कूदकर उस पर सवार होता है।) समझो, मैं देवदूत हूँ।"

घोड़े को एड़ लगाकर वह उड़ चलता है। महिला, स्तिमित, देखती रहती है।

एक रात

जयराज की तीस वर्ष की अवस्था होगी। धुन में बँधा, सदा काम-काज में रहता है। अपने प्रान्त की काँग्रेस का वही प्राण है। लोग उसे बहुत मानते हैं। उन्हें छोड़ और वह रहता किस के लिए है? अविवाहित है और उससे विवाह का प्रस्ताव करने की हिम्मत किसी को नहीं होती। जैसे उसे विवाह तो क्या मौत की फ़ुरसत नहीं है।

सबेरे का वक्त था। नौ का समय होगा। आधी बाँहों का कुर्ता और जाँघिया पहने वह एक परिषद् के लिए अपना भाषण लिख रहा था।

उसी समय उससे पूछा गया कि एक डेपुटेशन मिलने के लिए आया है, क्या जयराज मिल सकेंगे? क्या डेपुटेशन अन्दर आए?

"अवश्य।"

जयराज ने कागज़ वहीं छोड़ दिये और वह डेपुटेशन की प्रतीक्षा में खड़ा हो गया।

डेपुटेशन के सज्जन आये और उसने जानना चाहा कि उसके लिए क्या आज्ञा है?

प्रतिनिधिगण जयराज को अपने कस्बे में ले जाना चाहते हैं। कस्बे का नाम, हरीपुर है।

जयराज ने कहा "हरीपुर !"

"आप कभी वहाँ नहीं पधारे हैं। हमारे यहाँ सन् ३० में कई बार लाठी-चार्ज हुआ। तहसील से दो सौ से ऊपर वालंटियर जेल गये। बीस तो महिलाएँ थीं। हमने कई बार अनुरोध किया कि आप आयें। हम बिना नेता के कब तक काम कर सकते हैं?..."

जयराज सुन रहा था। सुनते-सुनते वह चटाई से उठा और टहलने लगा। टहलते-टहलते उसने कहा, "हरीपुर कितनी दूर है?"

"...कुल तीन स्टेशन है। इस बार तो आपको जाना ही होगा। जनता में बहुत उत्साह है। तहसील-कान्फ्रेंस की कल की तारीख है, आपको मालूम ही होगा। जनता आपके दर्शन के लिए बहुत उत्सुक है। प्रान्त में आप सब जगह जाते हैं, एक बार हमारे देहात में भी चलने की कृपा कीजिए। देखिए, आप हताश न करें।..."

जयराज के टहलने की चाल में तेजी आ गई और वह सुनता रहा—

"...महात्मा जी भी अब गाँवों की तरफ जोर दे रहे हैं। हम पूरे विश्वास से आये हैं। हम निराश नहीं जायँगे।..."

जयराज टहल रहा था। उसने कहा, "हरीपुर !...क्या, कल? कितने स्टेशन आपने बताया? हाँ, तीन स्टेशन। क्या टिकट है?"

कई कण्ठों ने कहा, "सात आने।"

"सात आने।...कान्फ्रेंस का क्या वक्त है?"

"चार बजे शाम।"

"चार बजे शाम ! शाम को गाड़ी कब वापिस आती है? मैं

रात को नहीं ठहर सकता ।...अँ अँ...हाँ, रात में बिल्कुल नहीं टिक सकता ।...हरीपुर ।" मानों वह कुछ स्मृति में लाना चाह रहा है, या वहाँ से हटाना चाह रहा है । चलते-चलते शेल्फ में से रेलवे का टाइम-टेबिल निकालकर वह देखने लगा—

डेपुटेशन के कई व्यक्तियों ने कहा, "एक छै-पैंतीस पर आती है, दूसरी-रात के साढ़े ग्यारह बजे । आप रात को आ जाइएगा । आपको किसी तरह की तकलीफ नहीं होने दी जायगी ।

"साढ़े छै बजे ! हाँ-आँ, लेकिन, मैं साढ़े ग्यारह की गाड़ी से नहीं आ सकता । इतनी रात तक मैं नहीं रुक सकता । बिल्कुल नहीं रुक सकता । मुझे बहुत काम रहता है ।"

हरीपुर के प्रतिनिधियों ने कहा, "बहुत जरूरी समझें, तो फिर पौने सात की गाड़ी से ही आ जाइएगा ।"

"हाँ, पौने सात पर भी गाड़ी आती है । मैं आठ तक यहाँ आ सकता हूँ । ठीक !...लेकिन ठहरिए, मैं जरा देख लूँ ।" उसने चलते-चलते मेज पर से उठाकर डायरी देखी । देखकर रख दी । "नहीं, नहीं, मैं नहीं आ सकूँगा । मुझे क्षमा करें । देखिए, नेतृत्व के मामले में गाँवों को आत्म-निर्भर बनना होगा । नेताओं का भरोसा आप क्यों रखें ? इस तरह सरकार हमें हरा सकती है । चुन-चुनकर कुछ आदमियों को जेल में डाल दिया और राष्ट्र की रीढ़ टूट गई । नहीं, नहीं, प्रत्येक व्यक्ति कृत-निश्चय हो । तब तो स्वराज्य मिलेगा । नहीं तो अगर स्वराज्य मिला भी, तो जनता का स्वराज्य वह कब हुआ ? हम लोगों का आसरा अब छोड़ दीजिए । मैं आप-सा ही आदमी हूँ, दो टाँगें, दो हाथ । आप दिल में इरादा पैदा कीजिए और मुल्क के लिए रहिए, तो आप में मुझ में क्या फर्क है ? तो यह ठीक है न ? आप मुझे छोड़ें । सब बाहरी लीडरों

की आस छोड़ो। खुद लीडर बनो। आपकी तहसील का आपकी तरह मैं प्रतिनिधि हो सकता हूँ ?....देखिए, मैं जरूर चलता, लेकिन मजबूरी आ गई है।"

प्रतिनिधि लोगों को बहुत दुःख हुआ। जयराज की वहाँ बहुत ही माँग थी और उन्हें भरोसा था कि जयराज उनके हृदय को तोड़ नहीं सकेगा। उन्होंने कहा, "तो हम लोग जायँ ?"

जयराज ने टहलते-टहलते कहा. "हाँ आप मुझे माफ कर दें।...आपने कहा, तीन स्टेशन हैं, पौने सात बजे गाड़ी वापिस आती है। देखिए, मैं कोशिश करूँगा। मोटर का रास्ता तो नहीं है ?...नहीं ? अच्छा, आपको तकलीफ करने की जरूरत नहीं है। आ सकूँगा तो मैं अकेला ही आ जाऊँगा। स्टेशन बस्ती से कितनी दूर है ?...तीन मील है ? तो अच्छी बात है। आप विश्वास रखें, मैं भरसक प्रयत्न करूँगा।"

प्रतिनिधियों ने कहा, "गाड़ी पर सवारी तैयार मिलेगी।"

"अच्छा, अच्छा।...आप लोगों को कष्ट हुआ। देखिए, मैं आऊँगा। लेकिन वादा नहीं कर सकता। यहाँ दो बजे गाड़ी जाती है न ?...नहीं, नहीं आदमी भेजने की कोई जरूरत नहीं है। और फिर कहीं आदमी भेजना बेकार न हो।...जी हाँ, जी हाँ। लेकिन गाँवों को स्वावलम्बी होना होगा। अच्छी बात है।...वन्दे।"

डेपुटेशन के लोग चले गये और वह लम्बे डगों से टहलता ही रहा। आरम्भ किया हुआ भाषण पूरा करने मेज पर जल्दी नहीं आ गया। अन्त में टहलते-टहलते वह मेज पर आ बैठा और होल्डर से ब्लाटिंग-पैड पर लिखा, लिखा कहें कि खींचा—

Swaraj is our brithright—as indisputable elsewhere as in politics.

Swaraj
Love
Independence
Marriage ?

But there is marriage too. Marriage gives man a foothold, society a unit. It gives a home.

Alright. Perfectly alright. But—?

And there is Love in the human breast. Love gives us glow, gives us bliss. Love makes us transcend the physical & touch the spiritual. That makes us reach out beyond the here & the now, reach out with the eternal vanity of life.

God made love. Did God make marriage also? No, man did the making of it. And I say Love is not chaos. It is never that. Never. Never!

Ah, how slavish of me thus unwittingly to use English. Must write Hindi! हिन्दी-हिन्दी। हिन्द हमारा देश, हिन्दुस्तानी हैं हम, हिन्दी हमारी भाषा, हिन्दी हमारा बाना—भाइयो!

हरीपुर—२३ मील, सबेरे की गाड़ी। मैं नहीं जा सकता। Oh Damn it all! Why make a misery of it—Dear Jairaj, mind, lest—

इतना बनाकर वह सिर को हाथों में थामे मेज़ से उठ खड़ा हुआ और भूल गया कि एक हफ्ते में उसे अपना सभापति का भाषण ज़िला-कान्फ्रेंस के स्वागत-मन्त्री को छपने के लिए भेज देना है।

* * *

बिना ताले और बिना प्राइवेसी जयराज सबका बनकर अकेला रहता है। अब तक जीवन के पाँच वर्ष जेल में बिता चुका है। खाली रहता ही नहीं। कालेज के चौथे वर्ष से पढ़ना छोड़ दिया, तभी सगाई भी तोड़ दी। हाँ, यही कहना होगा कि तोड़ दी,

क्योंकि दूसरी ओर से तो उसके टूटने की बात ऊपर आई सुनी गई नहीं। बात यह भी हुई कि जो दुनिया में सीधी, शाही सड़क है, जयराज ने अपने को कुछ उससे भटक चलता हुआ पाया। उसे इसमें शंका होने लगी कि ठीक-ठीक कमाने और खिलाने वाला पत्निव्रत पति उसके स्वभाव में होना लिखा है। क्या जाने कोई संकट, कोई चुनौती अँधेरे में से उसे कभी भी पुकार नहीं उठेगी। उसे लगता था कि उस समय उससे घर पर बाल-बच्चों से घिरा किस भाँति बैठा रहा जायगा? तब उसने अपने साथ तर्क करके सोचा—तब मैं कौन हूँ कि एक कन्या को अपने साथ गुँथने दूँ? मैं संकट की ओर मुँह करके भागूँगा; उसका वही मुँह पकड़ने के लिए जो डराता है, ताकि जग निर्भय बने। लेकिन इसी उद्देश्य के साथ परिणय में किसी किशोरिका को बाँधने वाला मैं कौन? चलते-चलते राह में एक बेचारी लड़की के साथ खिच-कर बँधकर, अपनी अलग झोपड़ी बसाकर रुक जाने वाला मैं कौन हूँ?

—इस दुनिया में मुझे रुक पड़ने की छुट्टी कैसे है? किसी भी लालच में पड़कर राह के किनारे मुझे रम जाना क्यों है? अकेले ही अकेले चलते ही चलना है। क्योंकि जिधर मुझे चलना है उधर अंधेरा ही अँधेरा है, उधर अकिंचनता है। अँधेरे के भीतर तह पर तह भेदकर मुझे वह पा लेना है और ढा देना है, जो ज्योति को ढँकता है।

उसने सोच लिया—जो उसकी ही बनती-बनती रह गई वही अब किसी और दूसरे की हो। सहर्ष उसकी हो जो उसे विलास और विपुलता में ले जाय। अभाव में और विपद् में ले चलने के लिए उसे साथ लेने वाला मैं नहीं हूँ, नहीं हूँ।

सो उसने सगाई तोड़ दी। या कहो, खुश हुआ कि सगाई टूट गई। सच, क्या उसने सुना था कि कन्या के पिता कहीं अन्यत्र वैभव और विपुलता देखकर उस ओर झुकने की छुट्टी चाहते हैं? कौन जाने? जयराज के मन का हाल बाहर नहीं होता है। लेकिन यह पूर्णतया विदित है कि वह अविवाहित ही रहा है, विपदा के आतिथ्य से कभी उसने मुँह नहीं मोड़ा है और कभी वह हरिपुर नहीं गया है।

* * *

सबेरे नौ बजे एक जवाबी तार आ गया। हरीपुर वालों का तार था, लिखा था, "आपकी उपस्थिति अत्यन्त अनिवार्य है। क्या सहस्रों को निराश करेंगे?"

तार हाथ में लेकर वह थोड़ी देर घूमता रहा। कुछ देर बाद मेज पर आकर उत्तर में लिख दिया, "असमर्थता पर अत्यन्त खिन्न हूँ। स्वावलम्बन स्वराज्य है। सफलता की हार्दिक कामनाएँ।"

यह लिख देकर उसके चित्त ने चैन की साँस ली और मानो अन्दर ही अन्दर मुसकराकर जयराज ने अपने अधलिखे कागजों को खींचकर सामने ले लिया। उन्हें पढ़ा, पढ़कर खुश हुआ। आगे लिखने के लिए उत्साह से कलम उठाया। वह कलम कागज पर टिका, टिका ही रहा, बढ़ा नहीं। और जब वह कलम वहाँ से उठा तब स्याही की एक मोटी काली बूँद वहाँ बैठी शेष रह गई। थोड़ी देर वह कुर्सी पर खाली बैठा उस बूँद को ही देखता रहा। फिर उठकर बालों को खुजलाता हुआ टहलने लगा।

'...ठहरो, मुझे साफ़-साफ़ देखने दो। मैं क्या हूँ? मैं एक उद्देश्य पर समर्पित व्यक्ति हूँ। मेरा निजत्व क्या है? कुछ नहीं है। मेरा स्वार्थ क्या है? कुछ नहीं है। क्या मेरे लिए परमार्थ भी

कुछ है ? कुछ नहीं है। मेरे लिए एक ही वस्तु है। वही मेरा स्वार्थ, वही मेरा परमार्थ, वही मेरा निजत्व, वही मेरा लक्ष्य। जब मैं समर्पित हूँ तब मैं किसी भी और अन्य विचार के लिए खाली नहीं हूँ, बचा नहीं हूँ, जीवित नहीं हूँ। मेरी देह, मेरे मन, मेरी बुद्धि में कहीं भी कुछ और के लिए अवकाश कैसे हो, सिवाय उसके, जिसके लिए मैं न्योछावर हूँ ?...किसके लिए मैं न्योछावर हूँ ? राष्ट्र के लिए। राष्ट्र के स्वराज्य के लिए। राष्ट्र क्या ? वह राष्ट्र कहाँ है ? मेरे हृदय में वह राष्ट्र कहाँ है ? क्या अमुक और अमुक भौगोलिक परिधियों में परिमित भारतवर्ष नामक भूखण्ड का चित्र मेरे भीतर गहरा उतर कर सदा जागृत रहता है ? क्या वही यों जी की धड़कन में सदा स्पन्दन करता रहता है ? नहीं, स्पन्दन करता हृदय है, राष्ट्र की भावना के बिना भी वह स्पन्दन करता है। जान शेष, और विश्वात्मा का निर्देश है तब तक वह स्पन्दन रुकेगा नहीं, होता ही रहेगा। तब राष्ट्र क्या है ?...लेकिन ठहरो, मैं शंकितचित्त नहीं बनूँगा।...'संशयात्मा विनश्यति।' यह प्रश्नातीत रहे कि राष्ट्र है। मैं राष्ट्र-सेवक हूँ। और कुछ भी नहीं हूँ। जयराज मात्र नाम है। जयराज का कोई पार्थक्य नहीं, कोई व्यक्तित्व नहीं है। जयराज राष्ट्र-सेवक है, एक, निरा, बस।...

'...हरीपुर के आदमी आये। हरीपुर मुझे माँगता है। मैं राष्ट्र का हूँ, प्रान्त का हूँ, जिले का हूँ, गाँव का हूँ। मैं किसकी माँग से विमुख हो सकता हूँ, जब तक कि मेरे उद्देश्य की ही दिशा की कोई दूसरी अधिक हार्दिक, अधिक बृहत् पुकार सामने न हो। जयराज, हरीपुर है कि रामपुर है कि जनकपुर है, तेरा उनमें अपना-पराया क्या है ? कैसे एक से बच सकता, दूसरे से खिंच सकता है ? तैंने यह क्या अपने साथ जुल्म किया है कि

हरीपुर के प्रतिनिधियों के हृदयों को चोट दी है ? तू तार के जवाब में भी भीरु बना है ! तेरे पास क्या और कुछ है, कौन-सा वह राष्ट्र का काम है जो हरीपुर वालों की माँग को अस्वीकार कर देने को औचित्य दे सकता है ?.....

'...देखो जयराज, तुम जरा भी अपने नहीं हो। तुमको अपने सेवा-कार्य के साथ अशेषरूप में एकाकार रहना होगा। वही रहे, तुम न रहो। राष्ट्र रहे और राष्ट्र के सेवक के अतिरिक्त तुम और कुछ न रहो।...'

* * *

जब जयराज अचानक ही भरी सभा में जा पहुँचा और उसे अध्यक्ष के आसन के पास के आसन पर ला बिठाया गया, तब सभा उसके ऊँचे जय-घोष से गूँज उठी। जयराज ने निस्पृह भाव से उपस्थित नर-नारियों की भीड़ को देखा। देखकर उसका हृदय भर आया। उसका हृदय भारत के गौरव पर फूल आना चाहता था।

सभा आरम्भ हुई और थोड़ी देर बाद सभापति ने कहा, "श्रीमती सुदर्शना देवी अपना स्वागत-गान पढ़ेंगी ।"

महिलाओं के बीच में से ही एक ओर से सुदर्शना देवी ने उठ आकर पहले जयराज के गले में खद्दर के फूलों की माला डाली, प्रणाम किया और मन्च के पास जाकर स्वागत-गान आरम्भ किया।

जयराज स्वागत-गान गाती हुई उस नारी-मूर्ति के उस पार श्रोताओं के समूह को बिना देखे निर्निमेष देखता रहा।

...वह मात्र राष्ट्र-सेवक है और यदि यहाँ उपस्थित राष्ट्र की जनता उसका सम्मान करने आई है तो वह राष्ट्र की टेक का सम्मान है। उसी के नाम को निमित्त बनाकर स्वागत-गान

का अर्घ्य देती हुई जो महिला मञ्च पर खड़ी गा रही है उसकी ओर बिना देखे जयराज अपने मन में कहने लगा, "यह भारत की नारी-शक्ति मुझ में केवल राष्ट्र-संकल्प का ही स्वागत कर रही है। मैं स्वागत को लेकर राष्ट्र के चरणों में ही तो दे सकता हूँ। मेरा स्वागत यह नहीं है, मेरा नहीं है। यह स्वागत-गान प्रदान करने वाली, मात्र नारी-शक्ति की ही प्रतिनिधि होकर, मेरे गले में यह माला डाल गई है। यह माला न मेरे लिए है, न उसकी है। वह कौन है? उसका नाम सुदर्शना है। पर सुदर्शना नाम ही है। वह इस समय भारतीय नारी की गरिमा को अपने कल-कण्ठ के गुँजार से मुझ को उपलक्ष्य बनाकर भारत-माता के पद-पद्मों में भेंट देने प्रस्तुत हुई एक सेविका है...।"

और जयराज ने गले में से माला उतार कर सामने रख दी।

"....सेविका है। हाँ, नाम उसका सुदर्शना है। सुदर्शना न होकर सुनयना भी हो सकती थी। जयराज, भारतीय नारीत्व की यह भेंट, भारतीय वीरत्व के संकल्प के प्रति है। तेरा अपना इसमें निजत्व कुछ नहीं है। कुछ भी नहीं है। सुदर्शना को तू सुनयना या सुलोचना ही समझ। बस एक इकाई, भारत के राष्ट्र की एक आदरणीय नारी..."

और उसने सुनयना अथवा सुलोचना नाम की एक इकाई बन गई सुदर्शना की ओर पहली बार देखा। वह सामने की भीड़ देखती हुई स्वागत-गान गा रही थी। क्या उसके स्वर में राष्ट्र-प्रेम का ही दर्द था? उसके गान में क्या राष्ट्र-स्नेह ही की मिठास थी? क्या वाणी के कम्पन में स्वराज्य-युद्ध का ही आह्लाद था? क्या उसमें राष्ट्र के एक वीर को निस्पृह पूजा देने का ही उल्लास था? क्या उसमें अत्यन्त निजी भी कुछ न था? कुछ बिलकुल

व्यक्तिगत, हृद्‌गत, मर्मगत, देश के भाव से भी कुछ गहरे तल तक गया हुआ? कुछ वह जो राष्ट्र-देव से किसी अधिक मूर्तिमन्त, अधिक जीवन्त, अधिक निजीय देवता के प्रति समर्पणीय हो...।

गरदन को झटका देकर, उसे सीधी करके और फिर सामने निगाह स्थापित कर जैसे जयराज ने एकाएक लगाम खींची।

'जयराज, राष्ट्र पर चढ़ते हुए अर्घ्य में कुछ भी अपना निजत्व मानकर अर्घ्य को अपवित्र न करो। चोर न बनो। यज्ञ अशुचि न बनाओ। तुम्हारा कुछ नहीं है, कुछ नहीं है। कुछ तुम्हारे लिए नहीं है, कुछ तुम्हारी स्वीकृति के लिए नहीं है। सुदर्शना सुनयना भी हो सकती है, सुलोचना भी हो सकती है। माला भारतीय नारी-के हाथों भारतीय पौरुष के गले में पड़ी है। नारी-शक्ति ने युद्ध-पौरुष का स्वागत-गान किया है, जयराज!...'

स्वागत-गान गाती हुई सुदर्शना की ओर जाती-जाती अपनी निगाह को मोड़कर सीधी रखते हुए जयराज ने सोचा—

'जयराज, सीधे देखो। राष्ट्र की आरती को पवित्र रहने दो। तुम्हारी अमानत में देकर यह स्वागत राष्ट्र के भविष्य के अभिनन्दन में किया जा रहा है। खबरदार जो उस अमानत को स्निग्ध निगाह से भी तुम देखो, जो ज़रा भी तुम छुओ। राष्ट्र के उदीयमान भविष्य के चरणों की ओर उस अभिनन्दन को बढ़ने दो, वहीं चढ़ने दो। तुम उपादान रहो, अपनी गृद्धि उसमें कुछ मत रखो!...'

एकाएक घड़ी दीखी, साढ़े चार! उसने झुककर सभापति से कहा, "गाड़ी कब जाती है?"

"क्या आज ही जाइएगा?"

"शायद पौने सात बजे जाती है। मैं रह नहीं सकता।"

इसी समय वह जैसे एकाएक अतिशय उद्विग्न और अत्यन्त व्यस्त हो उठा, "मैं नहीं रुक सकता। जी नहीं, मैं किसी तरह रुक नहीं सकता। देखिए—"

और सुदर्शना देवी ने धीरे-धीरे उसकी ओर आकर, समक्ष ठहर कर फ्रेम में जड़े हुए और अपने हाथ के सुन्दर-सुन्दर अक्षरों में लिखे हुए स्वागत-गान को उसके चरणों में रख दिया और मस्तक को उन चरणों के पास झुकाकर प्रणाम किया।

जयराज ने बिना सुदर्शना की ओर निगाह उठाए झपटकर उस फ्रेम को लिया और सामने रक्खी माला पर औंधा कर दिया!

"देखिए, मैं हर्गिज-हर्गिज नहीं रुक सकता। बहुत जरूरी मुझे काम है।"

अध्यक्ष ने कहा, "सबेरे आराम से चले जाइएगा। तहसील के काँग्रेस-कार्यकर्ता सब जमा हैं। काँग्रेस-कार्यक्रम के सम्बन्ध में आपसे परामर्श चाहते हैं। नौ बजे मैंने उनकी सभा बुला ली है।"

जयराज ने झींककर कहा, "ओह, यह आप क्या करते हैं! मुझे चले जाना चाहिए। सभा आप अपनी करते रहिएगा। मैं कह चुका हूँ, स्वावलम्बी बने बिना न चलेगा। मैं रात को नहीं ठहर सकता।"

अध्यक्ष ने विनीत भाव से कहा, "सबेरे छः बजे एक गाड़ी जाती है। आराम से आपको उसमें बिठा दिया जायगा। सात बजते-बजते आप मकान पर होंगे। अगर—"

जयराज ने कुछ अधीर होकर कहा, "नहीं-नहीं, साहब।" और फिर एकाएक स्वयं सावधान होकर तथा अध्यक्ष को सावधान

करते हुए कहा, "लेकिन, अपने मन्च की तरफ तो देखिए, वह खाली है।" सभापति ने उठकर कहा, "भाइयो—"

जयराज फिर गरदन सीधी कर सामने अनिमेष देखने लगा। सभापति उसका स्तुति-गान कर रहे थे। वह एक ओर भारत के भाग्य पर गर्वित होता, दूसरी ओर रोना चाहता था। वह रह-रह-कर घड़ी की ओर देखता था। घड़ी की सुई मिनट-मिनट पर आगे आती थी। वह मण्डप में एकत्रित जनता को देख रहा था। इस दृष्टि-प्रसार में सभा का रंग-बिरंग विभाग भी बिछा दीखता था। वह यदि आँख उठाकर उस महिला-ब्लाक की ओर देखता था तो उसमें स्त्रियों को अलग-अलग नहीं देखता था। मानो भारतीय स्त्रीत्व की गरिमा को समग्र अविभक्त रूप में ही देखता था। सब नारियों के चित्र-विचित्र परिधानों ने एक साथ इकट्ठे होकर मानो उस गरिमा के रूप में अद्भुत छटा ला दी है। इस चित्र में कहाँ सुदर्शना है? कहाँ सुलोचना है? कहाँ सुनयना है?, इसका कुछ भी पता नहीं है। सब मिलकर चित्र को जीवन दे रही हैं, ऐश्वर्य दे रही हैं। वह जीवन और वह आभा ही ध्यान देने के लिए है। भारत के प्राणों का लालित्य ही वहाँ फूट पड़ा है। वह सब, समष्टिरूप में, भारतीय नारी-गौरव के उपमान की अपेक्षा ही जयराज के आकर्षण के लिए है। यों सुदर्शना, सुनयना भी हो सकती है, सुलोचना भी हो सकती है।

सभापति आ बैठे। घड़ी पाँच से आगे पहुँच गई है और जयराज को अब सहस्रों दृष्टियों का मध्यप्राण बनकर बोलना होगा। वह उठा और करतल ध्वनि के घोर रव ने उसे पूरी तरह डुबो लिया। वह जाने कहाँ पहुँच गया था। मन्च पर पहुँचकर उसने बोलना शुरू किया—

लौटकर देखा, "घड़ी में साढ़े छः से ऊपर हो गया है। उसने झल्लाकर सभापति से कहा, "सवारी का इन्तज़ाम है ? मुझे अभी जाना चाहिए।"

सभापति ने उत्तर में घड़ी की ओर देखा। मानों घड़ी के मुँह के सामने उन्हें बोलने का सामर्थ्य नहीं है।

जयराज ने कहा, "देखिए नहीं, सवारी मँगा भेजिए। आपने मुझे बीच में वक्त की याद क्यों नहीं दिलाई ?"

सभापति ने निवेदन किया, "गाड़ी मिलना मुश्किल है।"

जयराज ने कहा, "ठीक है, आप कान्फ्रेंस चलाइए। मुमकिन है, गाड़ी ही लेट हो। मुझे इजाजत दीजिए, मैं चलूँ।"

सभापति ने साश्चर्य कहा, "अब आप कहाँ जाइएगा ? पैदल ?"

जयराज ने माला और स्वागत-गान को उठाया, वह रुका। फिर सभापति को उन्हें सौंपते हुए उसने कहा, "जी हाँ पैदल जा रहा हूँ। स्टेशन ढाई मील ही तो है। देखिए, इन चीज़ों को काँग्रेस दफ्तर में रख लीजिएगा।"

सभापति उठ खड़े हुए। जयराज ने बिदा ली और कुछ लोग उसके साथ-साथ चले।

जयराज ने कहा, "आप बैठें-बैठें।"

किन्तु लोग उसके साथ ही रहे। वह निःशब्द तेजी से बढ़ने लगा और धीरे-धीरे लोगों का साथ छूट गया। वह एक-साँस बढ़ता हुआ स्टेशन पर आया।

पर गाड़ी निकल चुकी ही थी। वह प्लेटफार्म की बेंच पर बैठ गया। बैठा रहा, बैठा रहा—

'...थोड़ी देर में रात हो जायगी' उसने सोचा, 'मुझे रात

में बेकाम क्यों अपने स्थान से दूर रहना होगा ? अब गाड़ी साढ़े ग्यारह बजे जायगी। मैं क्यों अपने भाषण में वक्त का ख़्याल नहीं रख सका ? भाषण का मेरे लिए नशा क्यों है ?...यह मैंने ठीक किया कि माला और स्वागत-गान काँग्रेस-दफ़्तर में रखने के लिए छोड़ आया और कह आया हूँ। क्या उस गीत के नीचे उसके हस्ताक्षर हैं ? उनकी कोई वहाँ आवश्यकता नहीं है। राष्ट्र को दी हुई भेंट पर अपने नाम की मुहर की कोई जरूरत नहीं है। मैंने उसे देख ही क्यों न लिया ? किन्तु मैं समझता हूँ, सुदर्शना,—हाँ, वह सुनयना भी हो सकती है, सुलोचना भी हो सकती है—इतनी लड़की नहीं होगी कि अपना नाम वहाँ अवश्य रक्खे। यदि उसका नाम अपने हस्ताक्षरों में वहाँ है, तो इसमें सन्देह है कि वह फिर काँग्रेस-दफ़्तर के लायक चीज़ है। तब वह मेरे यहाँ रह सकती थी, या, या किसी के यहाँ रह सकती है।

'...ठहरो, नौ बजे इन लोगों ने काँग्रेस-कार्यकर्त्ताओं की सभा बुला ली है। मैं यहाँ स्टेशन पर पाँच घन्टों का क्या बनाऊँगा ? लेकिन वह लोग गलती करते हैं कि मुझे बिना पूछे मेरे आसरे सभा बुला लेते हैं। और वक्त क्या बुरा है, नौ बजे !—'

वह उठकर प्लेटफार्म पर टहलने लगा। टहलता रहा, टहलता रहा, और वापिस फिर बस्ती की ओर चल पड़ा।

चलते-चलते वह कातर हो-हो आया—

'बस्ती में हजारों घर हैं। हजारों प्राणी उनके नीचे बसते हैं। ओ मेरे घट-घट रमते राम, मुझे शक्ति दे ! मैं तेरे अनुरूप घट-घट में खो जाऊँ, जन-जन में बसूँ। मैं किसी एक का होकर नहीं रहना चाहता। कोई भी एक विशिष्ट रूप में मेरा नहीं है। जब इस हरीपुर

नगर में जा रहा हूँ, तब समस्त हरीपुर के प्राणों के लिए मेरा प्राण हो। दरिद्रातिदरिद्र, निम्नातिनिम्न, हीनातिहीन जन के प्रति मैं अधिक से अधिक प्रदत्त बनूँ। इस नगर में मेरे लिए विशिष्ट कोई नहीं है। मेरे राम, कोई नहीं है।' वह मानो प्रण करता हुआ चला—'विशिष्ट कोई नहीं है, कोई भी नहीं है।'

* * * *

शाम से ही कुछ बादलों के आसार थे। नैऋत्य से ठण्डी वायु उमड़ रही थी और दूर क्षितिज के पास काले नाग के सप्त-फण-सा बादल शनैः-शनैः ऊपर उठ रहा था।

काँग्रेस-कार्यकर्त्ता लोग दफ्तर में जमा थे। जयराज ने वहाँ पहुँचकर सभा के अध्यक्ष से कहा, "लीजिए, रेल नहीं मिली और मैं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ।"

अध्यक्ष अति धन्य हुए। उन्होंने कहा, "आइए,आइए।"

जयराज ने कहा, "आप अपनी सभा जरा जल्दी कर लें, और जो लोग आने वाले हों उन्हें बुला लें। मेरी गाड़ी साढ़े ग्यारह बजे जाती है न ? दस बजे तक मैं सभा में सहयोग दे सकता हूँ। तब तक आपकी सभा क्यों न हो जाय ?"

सभापति महोदय ने कहा, "जी हाँ मैं अभी बुलाता हूँ। लेकिन आप रात को ठहर सकें तो अच्छा है।"

"जी नहीं। रात को किस तरह नहीं ठहर सकता।" जयराज ने कहा, "लेकिन आप सभा शुरू कीजिए। मुझे मुझ पर छोड़िए।"

नौ बजे के लग-भग सभा शुरू हुई। उस समय हवा आँधी हो चली थी और बादल सारे आसमान पर छा भरा था। और बिजली भी बीच-बीच में तड़कती थी। सभा हो रही थी और कुछ लोगों का ध्यान जयराज के गम्भीर प्रवचन से हटकर हठात् उस

प्रकृति की हुंकार के अर्थ की ओर जा रहा था। परन्तु जयराज अशेष रूप से प्रस्तुत विषय में दत्तचित्त था।

हाल की खिड़कियाँ काँपने लगीं, गड़गड़ाहट बढ़ गई। उस समय जयराज कह रहा था—

"...कॉंस्ट्रक्टिव वर्क ही वर्क है। हमें राजनीतिज्ञ नहीं चाहिए, सेवक चाहिए। सेवक अपने को सेवा में खो दे। अपने को खोने का अर्थ अपने प्राण-रस को जनता के मूल में सींच देने का है। भूखे के साथ, बेरोजगार के साथ अपने को मिला देने की कोशिश हमें करनी है। भूखे को खाना, बेकाम को काम और आशंकित को ढाढस हमें देना है। चर्खा यह सब देता है।...."

और, बादल घुमड़ रहे थे, बिजली कड़क रही थी, और वक्त बढ़ रहा था। बीच-बीच में कुछ भारी-भारी बूँदें भी टप्प, आ टपकी थीं। इसी समय अनायास घड़ी की ओर देखकर उसने अध्यक्ष से कहा, "देखिए, किसी सवारी का इन्तजाम हो सके तो।"

अध्यक्ष धीमे से बोले, "बादल बहुत हो रहे हैं। मैं आदमी को भेजता हूँ।"

सभा चलती रही और आदमी ने सूचना लाकर दी कि घटा घनघोर है, सवारी हो तो जायगी, पर गाड़ी वाला दो रुपया माँगता है। सभापति ने उसे चुप करते हुए कहा, "अच्छा, रुपये की क्या बात है। (जयराज से) सवारी हो जायगी। मँगवा दी जावे ?"

"जी हाँ, मँगवाइए, बस दस होते हैं।"

उस आदमी को गाड़ी ले आने के लिए फिर भेज दिया गया और सभा चलती रही।

किवाड़ खड़-खड़ खड़कते थे। हवा साँय-साँय करती थी।

यह किवाड़ों को थपेड़ से उधेड़ कर भीतर घिर आना चाहती थी। अँधेरा काले पर काला था, जिसको बिजली और घोर कर जाती थी। और दुनिया घरों में बन्द थी।

जयराज ने घड़ी की ओर देखा। दस पर पाँच मिनट हो गये, दस हो गये, अब पन्द्रह भी हो जावेंगे। उसने सभापति जी से पूछा, "सवारी आगई?"

उन्होंने कहा, "अभी आदमी लौटा नहीं।"

जयराज ने व्यस्त भाव से कहा, "तो ठहरिए मुझे चलना चाहिए।" और वह उठ खड़ा हुआ।

लोगों ने कहा, "देखिए तो साहब, बाहर क्या हाल है? आज यहाँ रहिए, सबेरे चले जाइएगा।"

जयराज मुस्कराया। मानों कहा, "वर्षा और हवा हमें मोड़े तो हम कैसे कृतसंकल्प? कैसे राष्ट्रकर्मी?"

इतने में उस आदमी ने आकर जवाब दिया कि गाड़ी वाला बादलों की ओर देखकर जाने को तैयार नहीं है। वह पाँच रुपये माँगता है।

"क्या?" जयराज ने साश्चर्य कहा, "गाड़ी के रुपये काँग्रेस को देने होंगे? नहीं-नहीं। तब तो मैं पैदल ही जाऊँगा।"

बात उसकी पूरी तरह खत्म न हुई थी कि तड़-तड़ चोट देकर बाहर के टीन पर ओले गिर चले।

लोगों ने जयराज की ओर देखा। जयराज प्रसन्न मालूम होता था। उसने कहा, "ओहो, ओले गिर रहे हैं! (सभापति की ओर मुड़कर) दो कम्बल मुझे दीजिए और एक छतरी। दे सकेंगे?"

सभापति परिपक्व अवस्था के पुरुष थे। जयराज अभी युवा था। उन्हें विचार भी आया कि क्या वह पिता की भाँति आगे

बढ़कर उस लड़के को मूर्खता से नहीं रोक सकते ? लेकिन जयराज की ओर देखकर उनका आत्मविश्वास उड़ जाता था और वह प्रार्थी ही हो रहते थे। उन्होंने कहा, "आप सबेरे जावें तो ?"

जयराज ने कहा, "दो कम्बल दे सकते हैं तो आप दे दें। आपकी कृपा होगी।"

कम्बल लिये। एक को बदन से लपेटा, दूसरे को ओढ़ा, छतरी सम्हाली और जयराज ने कहा, "अच्छा, आप लोग मुझे इजाजत दें।"

उसके कहने के साथ ही एक पैने तीरों की नोंक-सी बूँदों की बौछार हवा की बाढ़ के साथ आकर टीन को उधेड़ गई !"

जयराज अनायास कुछ ठिठक गया।

...हरीपुर में आखिर यह रात वह क्यों बिता नहीं सकता ? सबेरा होते ही यहाँ से चला जा सकता है...। किन्तु तभी उसने सभी लोगों की ओर मुँह करके दोबारा कहा, "अच्छा वन्दे।" और स्थिर डग बढ़ाकर दरवाजे के बाहर हो गया।

* * *

उसी हरीपुर में एक छत के नीचे कुछ और भी घट रहा था।

सुदर्शना देवी ने माला जयराज के गले में डाली, स्वागत-गान पढ़ा, उसको चरणों में चढ़ा दिया और उन चरणों को प्रणाम कर जगह पर आ बैठी, इसके बाद जयराज का उसने भाषण सुना। खद्दर का मोटा कुर्ता, मोटी धोती, उन्नत ललाट, निर्भीक और संकल्पयुक्त वाणी के साथ जयराज भाषण करता रहा, तब सुदर्शना उसे सुनती रही। देखती रही और नहीं भी देखती रही।

जयराज बीच ही में मण्डप से उठकर बाहर चला गया।

सुदर्शना अपनी जगह ही बैठी रही। जब आसपास की और सब स्त्रियाँ उठकर चलने लगीं तब वह भी उठकर चल दी।

वह जयराज को क्या जानती है? मालूम नहीं, क्या जानती है। काँग्रेस-नेता की हैसियत से जो वह है, उतने का तो परिचय सार्वजनिक सम्पत्ति है। सो उसको भी प्राप्त है। उसके आगे भी यदि कुछ जानती है तो पता नहीं। आज पहली बार उसने इन जयराज को देखा है।

सभा में से जब सब उठीं तब वह भी उठकर चलती चली आई। चलती चली ही आई। घर आकर एक चटाई पर बिना कपड़े बदले बैठ गई। फिर एकाएक माथे पर दोहत्था मार-कर वह वहाँ औंधी लेट गई। उसने अपने मन को वहाँ मसोस-मसोस लिया। पर समझ न पड़ता था, वहाँ क्या उठ रहा है।

कुछ भी उसके निकट स्पष्ट होता ही नहीं था। दो एक बार उसने अपना सिर भी चटाई पर दे-दे मारा, पर तो भी उस आग हो रहे सिर की समझ में कुछ नहीं आता था।

बहुत देर तक ऐसे पड़े रहकर वह उठी। हाथ-मुँह धो लिया, कपड़े बदल कर निरी धोली एक साड़ी पहन ली। पहन कर अपने पति की तस्वीर के सामने घुटनों जा बैठी। उस चित्र के आगे उसने भक्ति-पूर्वक अपना मस्तक नवाया और उसके बाद भरे से आते हुए कलेजे को लेकर घर के काम-धन्धे में लग गई।

संध्या के भोजन के अनन्तर वह अपने पति के कमरे में गई। पति आराम-कुर्सी पर लेटे हुए सिगार पी रहे थे और धुआँ देख रहे थे। उन्होंने मूछों में ही मुस्कराकर कहा, "आओ। कैसे आईं?"

वह आती ही आई और आलमारी की ओर बढ़ गई। खोल कर उसे देखने-भालने लगी, मानो इसी के लिए वह आई थी।

"क्या चाहिए ?"

पत्नी कुछ धर-उठा करती ही रही और चुप रही।

पति फिर टाँग सामने फैंक-कर सिगार पीने लगे और धुआँ देखने लगे। थोड़ी देर बाद सुदर्शना उनके सामने आकर एक कुर्सी की पीठ को पकड़कर खड़ी होगई। कुछ देर खड़ी रही और पति को पता न चला। सुदर्शना ने कहा, "मुझे तुमसे एक बात कहनी है।"

आँख खोलकर सामने खड़ी सुदर्शना की पूरी मूर्ति को देख कर पति ने कहा, "कहो।"

सुदर्शना ने कहा, "तुम मुझे क्या समझते हो ?"

पति की समझ में एकाएक यह बात नहीं आई। सामने कुर्सी की पुश्त को पकड़ कर खड़ी होकर भारी चेहरे से जब पत्नी पूछती है—'तुम मुझे क्या समझते हो,' बिना भूमिका, बिना प्रस्तावना के जब वह एक-टूक यही पूछती है कि 'तुम मुझे क्या समझते हो ?' तब उसे क्या समझना होगा ? पति ने कहा, "मैं तुम्हें अपने प्रेम की प्रतिमा, प्राण की प्राण, घर की रानी, आँख की पुतली समझता हूँ मेरी रानी, और क्या समझता हूँ ?"

और उन्होंने जोर से सिगार में से एक दम खींच लिया और मुँह को गोलाकार बना कर धुएँ को कुंडलाकार रूप में छत की ओर धीमे-धीमे उड़ा दिया।

पत्नी ने कहा, "मैं पतिव्रता नहीं हूँ।"

कहकहे के साथ पति ने हँसकर कहा, "तुम मेरी रानी हो, मेरी मलका, मेरी ज़ारीना !"

"आज से पहले मैं यह नहीं जानती थी। आज जानी हूँ, तो तुम से कहने आ गई हूँ।..."

पति का सिगार हाथों में रहा और वह सामने मानो उड़ गए हुए धुएँ में खोये, गुम हो रहे !

"...तुम से मैंने बहुत प्रेम पाया है, बहुत आदर लिया है। वह सब मैंने चोरी की है। ठगी की है। मैं उसकी बनने वाली कोई न थी। मैं अपात्र थी। आज मुझे पता चला है कि अपना सब-कुछ मैं तुम पर नहीं वार चुकी। भीतर-ही-भीतर कुछ बच गया था जो, आज देखती हूँ, तुम्हारे चरणों में मैं अर्पण नहीं कर सकी थी।... यों न देखो...मुझे देखो। मैं तुम्हे धोखा देती रही। तुम से पाती सब कुछ रही, देने में चोरी करती रही।..."

पति ने किं-विमूढ़ भाव से कहा, "क्या है ? क्या बात है ?"

"बात कुछ नहीं है। मैं अब तुम्हारे प्रति चोर नहीं रहूँगी। विश्वासघातिनी नहीं रहूँगी। तुमने मुझे इतना दिया, उस सबके लिए मैं ऋणी भी तो नहीं हो सकती, कृतज्ञ भी तो नहीं हो सकती। क्योंकि वह सब मैंने ठगाई की है। लेकिन अब जानने के बाद तो मैं कुछ भी लूँगी तो जलूँगी। मैं पतिव्रता नहीं हूँ। आज मैं तुम्हें यही बताती हूँ कि मैं पतिव्रता नहीं हूँ।..."

अविश्वस्त, किन्तु सन्तप्त, पति ने कहा—

"तो क्या है ? पतिव्रता नहीं, तो तू क्या है ?"

"...मैं तुम्हारे घर से निकाल देने लायक हूँ। मैं सच कहती हूँ, जान-बूझकर मैं तुम्हें धोखा देने वाली न थी। लेकिन यह मुझे आज ही मालूम हुआ कि मैं पूरी तरह समर्पित नहीं हूँ। सो आज ही तुम्हारे सामने खड़ी हूँ कि मुझे काला मुँह कर जाने दो। अपनी कृपा के नीचे मुझे एक क्षण भी मत टिकने दो। तुम अपनी कृपा की छाया तो उठाओगे नहीं, तब मुझे ही इजाजत दो कि मैं उसे कलङ्कित न करूँ।..."

"सुदर्शना ! सुदर्शना !!"

"जान कर मुझ से तुम्हारा अमङ्गल न होगा। तुम्हारे प्रेम को मैं विफल नहीं कर सकती। तुम्हारे-से पति को पाकर मैं घर को आनन्द से भरा क्यों न रख सकी ? घर पर क्यों सदा उदासी की छाया आ-आ मँडराती रही ? क्यों हमारे घर में शून्यता जमी रहती थी जब कि वहाँ पूर्णता उमगी रहनी चाहिए थी ? कारण मैंने आज जाना है। मेरे समर्पण में त्रुटि थी, मेरे पतिव्रत में शल्य था। मेरे मन में चोरी थी, चलन में खोट थी। अब मैं तुम्हारे दान को लाँछित नहीं करूँगी।—"

"सुदर्शना ! सुदर्शना !!"

"देखो, बादल गरजता है। आसमान काला है। बिजली तड़-पती है। मैं आज इसी काली दुनिया में चली जाऊँगी, आसमान ऊपर होगा, धरती नीचे। और मेरा हृदय और उसके भीतर का पाप-पुण्य मेरे साथ। मेरे कलङ्क की छाया मुझ तक ही सिमटी रहेगी, मुझे ही डसे रहेगी, वह छूने को न बढ़ेगी।"

पति कुर्सी से उठ आया, कुर्सी की पुश्त पर रखे हुए पत्नी के हाथों पर अपने हाथ रखकर और उसकी आँखों में देखते हुए उसने कहा—

"सुदर्शना, मुझे बताओ क्या है ? इस तुम्हारे धड़कते हुए दिल को मैं समझना चाहता हूँ, समझ नहीं सकता। मैं नहीं समझता, आत्मा। मैं नहीं समझता, धर्म। मैं नहीं समझता, सदाचरण। लेकिन मैं समझता हूँ, प्रेम। सुदर्शना, मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ। जानता हूँ, तुम मेरी समझ से बाहर रही हो। मुट्ठी की पकड़ में समाई नहीं हो। तुम मुझे सदा बचा ही गई हो। लेकिन सुदर्शना, मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ। मैं शराबी हूँ, ठीक है। मैं ऐबी

हूँ, ठीक है। मैं झूठा हूँ, ठीक है। लेकिन मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ। सुदर्शना, तुम यह जानती हो। मैंने कभी पतिव्रत के बारे में पूछा है? मैंने क्या अपने में उसकी लियाकत पैदा की है? कुछ चाहूँ, इससे पहले मैं अपनी तरफ़ बिना देखे कैसे रहूँ? मुझे नहीं चाहिए कुछ, सुदर्शना बस तुम मुझे प्रेम की स्वीकृति भर दो। तुम देखोगी, मेरी शराब भाग जाती है, ऐब छूट जाते हैं, झूठ उड़ जाता है। सुदर्शना, मैं तुम से कम बोला। तुम से अलग-अलग रहा। क्योंकि मेरा मुँह न खुलता था। मुझे हिम्मत न होती थी। क्योंकि मैं जानता था—मैं खोटा हूँ। लेकिन तुम छूटने या छोड़ने की बात करोगी तो खोटा दिल भी थोड़ा-बहुत तुम पर अपना दावा बताना चाहेगा, सुदर्शना। आज इस गरजते आसमान के नीचे खड़े होकर मैं कहता हूँ, तुम पर मेरे पतिपन का कोई दावा नहीं है। मेरे प्रेम का ही जो समझो दावा है। और यह प्रेम किसी तरह की कैफियत तुम से नहीं माँगता। मैं असभ्य हूँ, व्यसनी हूँ, दुराचारी हूँ। मैं माने लेता हूँ, मैं हूँ। लेकिन तुम्हें मैं नहीं छोड़ सकता हूँ। तुम छोड़ना भी चाहो, तो भी एक बार तुम्हारे हाथ जोर से पकड़कर मैं कहूँगा, 'मैं नहीं, मैं नहीं छोड़ सकता'।"

सुदर्शना के आँसू एक-एककर टपकने लगे। पति की भी वाणी भरी गई थी और चश्मे के नीचे उसकी भी आँखें सजल हो आई थीं।

सुदर्शना ने कहा, "मेरे स्वामी, मुझे भरोसा है सब-कुछ अच्छा ही होगा। आपके प्रेम को मैं स्पर्श नहीं कर सकती, यह मेरा ही दुर्भाग्य है। मैं कैसे उसे छूने का साहस करूँ जब कि मैं उसके प्रतिदान में चूकती हूँ। नहीं, ऐसा मैं नहीं कर सकूँगी। (ओले तड़-तड़ पड़े, दरवाजे के शीशों पर वे छर्रों से आकर लगे) स्वामी,

तुमने मुझे कब टोका है ? (घुटनों बैठकर) मैं जानती हूँ, तुम्हारा प्रेम वह है, जो, तुम से अलग होती हूँ तब भी, मुझे नहीं रोकेगा। मैं—"

सुदर्शना ने पकड़ने के लिए पति के पैरों की ओर हाथ बढ़ाया, "पति की आँखें सूनी थीं। पत्नी के हाथ की उँगली का स्पर्श उसके पैर को हुआ कि अतिशय विपन्न भाव से पति ने जोर से अपने पैर खींच लिये। वह तेज चाल से कमरे में चलने लगा। चलने लगा और चलने लगा। चलते-चलते अन्त में एक आलमारी में से बोतल खींची, गिलास लिया और मेज के सामने बैठ गिलास पर गिलास पीने लगा।"

सुदर्शना आँसू-भरे नैनों से धीरे-धीरे उठी और कमरे से बाहर निकल गई।

• • •

अँधेरी रात है। बूँदें पड़ रही हैं। बादल घुमड़ रहे हैं। सब सुनसान है। बिजली अपनी चमक से अँधेरे को और घना करके छिप जाती है। और जयराज सिर पर छतरी ठहराये, कम्बल ओढ़े, लम्बे डग बढ़ाता हुआ चला जा रहा है। छतरी बेकाम हो चुकी है फिर भी सिर पर है। कम्बल पानी से भीगकर भारी हो रहा है। और जयराज चला जा रहा है। बस्ती के भीतर ही एक चौराहे पर बिजली की कौंध ने उसे दिखाया—कोई स्त्री भीगती हुई सड़क के किनारे खड़ी है। पास पहुँच कर जयराज ने कहा, "कौन हो, बाई ?"

तब तक गुप अँधेरा हो गया था। उस अँधेरे में से ही सुदर्शना ने कहा, "स्टेशन जाना चाहती हूँ। कौन सड़क जाती है ?"

जयराज नहीं पूछ सका, वह कौन, क्यों इस समय स्टेशन जाना चाह रही है ? उसने कहा, "मैं स्टेशन ही जा रहा हूँ।"

इतना सुनते ही वह आगे बढ़ आई और जयराज के साथ हो ली।

उस समय एकाएक जयराज के मन में उदय हो आया कि ओले-पानी में, अँधेरे एकान्त में, दुनिया को आराम में बन्द और सोती छोड़कर उसका साथ पकड़, स्टेशन चलने-वाली यह नारी सुलोचना अथवा सुनयना अथवा सुवदना नहीं है। वह तो कोई विशेष विशिष्ट ही है जो किसी की प्रतिनिधि नहीं है, मात्र स्वयं है। और वह भी भारत-राष्ट्र की सेवा में समर्पित अगण्य सेवकों में से एक नगण्य सेवक नहीं है जो जयराज न होकर प्रियराज अथवा वलराज हो सकता है। नहीं, इस सहस्रों नर-नारियों की बस्ती के बीचों-बीच निर्जन चौराहे पर, जिसकी ओर से जगत् बेखबर है और बन्द है, इस भरते आसमान के नीचे और आप्लावित पृथ्वी के वक्ष पर, वह, देश और राष्ट्र, सेवा और साधना, इन सबसे ऊँचा होकर विश्वात्मा के समक्ष इस अकेली नारी के बराबर, अत्यन्त एक और अकेला, ठेठ और वास्तव जयराज होकर चल रहा है। वह सब ओर से मुक्त है, स्वयं है। इस अँधेरे के गर्भ में सब शंकाओं के बीच में सारवान्, सब व्यर्थताओं के बीच में अव्यर्थ।

और, सुदर्शना ? जयराज को जान लेने में उसने कब पलभर भी खोया है ?

जयराज ने कहा, "इधर छतरी के नीचे आ जाओ। बहुत पानी है।"

सुदर्शना पास आकर सटी-सटी चलने लगी। 'कौन हो ?'

'क्या हो ?' 'क्यों ऐसी हालत में हो ?' ये प्रश्न भी कहने के लिए ऐसे समय एक दूसरे के बीच में हो सकते हैं, यह बात उन दोनों के मन किसी ओर से उठकर आई ही नहीं। मण्डलाकार विश्व के बीच में, अँधेरे में ढके, अस्पष्ट राह पर एक छतरी के नीचे वे ही दोनों बराबर-बराबर जा रहे हैं। वे ही दो हैं। वे ही दोनों आपस में एक के लिए दूसरे हैं। चारों ओर का और सब साथ उनसे छूटा है।

तीसरा कहीं भी कोई और नहीं है। इतना वे जानते हैं। यही उनके लिए बहुत है। यही उनके लिए बस है। यहाँ उन्हें और क्या इष्ट शेष है ?...

चलते-चलते जयराज ने कहा, "ओ ! तुम तो सारी भीग रही हो, लो यह कम्बल ले लो।"

भीतर कमर से लिपटा कम्बल खोलकर जयराज ने उसे उढ़ा दिया। उस कम्बल को ओढ़कर वह चुपचाप फिर साथ चलने लगी।

पानी थोड़ी ही देर में खूब पड़ गया था। जगह-जगह उसकी सतहें बिछी थीं। सड़क पर छोटी-छोटी तलैयाँ बन रही थीं, वे बिजली के प्रकाश में थोड़ा हँस लेतीं और फिर अँधेरा उन्हें गँस लेता।

सुदर्शना का छप से पैर एक तलैया में पड़ा। पानी उछलकर जयराज की टाँगों पर लगा। और सुदर्शना ने एक धीमी 'आँय' की।

"क्या हुआ ?"—जयराज ने पूछा और वह चुप हो गया।

सुदर्शना, चुप, पैर निकालकर जरा लँगड़ाती हुई फिर आगे बढ़ चली।

"मोच आ गई ?"

सुदर्शना, चुप, आगे बढ़ती ही चलती रही। जयराज भी दोनों के सिरों पर छतरी सम्हाले रखे चल रहा था। रुक कर एकाएक उसने कहा, "पैरों में जूते भी नहीं हैं ?"

उसने अकस्मात् बिजली के प्रकाश में देखा था कि पैरों की उँगलियाँ बारीक-बारीक और लम्बी है और वे नंगी हैं। वे पैर नन्हें गोरे-गोरे हैं, और चले नहीं हैं, यह भी अनायास उसे दीख गया।

सुदर्शना चुपचुपाती चलती ही गई। और देखा गया कि एकाएक जयराज की चाल में भी तेज़ी आ गई। उसने मानों परुष पड़ जाकर कहा, "जल्दी चलो, मुझे रेल से जाना है।"

सुदर्शना तेज़-तेज़ चलने लगी। उसका वह पैर लँगड़ा ही रहा था। किन्तु उस ओर से हठान् मुँह मोड़ कर जयराज तेज़ ही चलता रहा। कुछ देर में चाल में एकाएक मद्धम होकर उसने कहा, "ओह तुम्हें मोच आई है ! मुझे माफ करना।"

उसके बाद काफी दूर तक वे लोग निःशब्द, बन्द, एक छतरी के नीचे सटे-ही-सटे चलते रहे। वर्षा धीमी होती दीखती थी। बादल फट रहे थे। जहाँ-तहाँ वायु के स्पर्श से राह के पेड़ों के पत्तों पर से कुछ टप-टप बूँदें टपकती थीं। जुगनू मुँह चमकाने लगे थे। रात सन्नाटा भर रही थी। अँधेरे में कम स्याही रह गई थी। और वे दोनों एक दूसरे की साँस सुनते, और मानो परस्पर अनपेक्ष्य चले जा रहे थे। स्टेशन के पास के सिगनल की लाल-लाल आँखें दीख आईं। कहीं हरा-हरा भी कुछ दीखता था। मानो नींद के अँधेरे के पट पै टँके रंगीन सपने हों।

"कहाँ जाओगी ?"

चुप।

"मेरी गाड़ी साढ़े ग्यारह बजे चली जाती है !"

चुप।

"ओह, जाड़ा लग रहा है ? वह स्टेशन आ गया। आज बहुत जाड़ा है। कम्बल ठीक लपेट लो। (सुदर्शना के कम्बल को हाथ लगाकर) ओः यह भी खूब तर हो गया। खैर। स्टेशन पर देखें आग-वाग कुछ मिलती है क्या ? कम्बल भारी है ? देखो, यों नहीं, इस तरह ओढ़ो।" और उसे कम्बल ठीक उढ़ा दिया।

सुदर्शना सब ओर से छुटी, इस समूचे अँधेरे, सन्नाटे-भरे शून्य के बीच में से निरुद्देश्य अनजानी राह पर जिसके साथ चली जा रही है उसी के प्रति वह अपने में शंका कहाँ से लाये ? वह चली ही जा रही है, शब्दहीन, सन्देहहीन, निर्व्याज और सम्यग् भाव से, जिसे करने को न प्रश्न की आवश्यकता है न उत्तर की अपेक्षा है। जिसमें जिज्ञासा का अवकाश नहीं है। भवितव्यता के सम्बन्ध में किसी प्रकार की आशंका के लिए गुंजाइश नहीं है। सम्पूर्ण, असंदिग्ध, निःकांक्ष्य, और निश्शंक, वह चली ही जा रही है। कहाँ ?—नहीं जानती। क्यों ?—नहीं जानती। और जानने की इच्छा भी हो, इतना भर भी अभाव, इतना भी रिक्त उसमें नहीं है।

स्टेशन के पास पहुँचते-पहुँचते उसने कहा, "आपकी गाड़ी साढ़े ग्यारह बजे चली जाती है ?"

* * *

बारिश रुक गई थी और हवा भी थमी थी। तीसरे दरजे के मुसाफिरखाने में एक दो व्यक्ति गठरी हुए पड़े थे। दफ्तर में बाबू काउन्टर पर माथा टेके ऊँघ रहा था। दफ्तर के बाहर एक बेंच पड़ी थी। भीतर तार की डमी गट्ट-गर-गर कर रही थी। बाबू का सिर

हथेली पर टिका था और मुँह से लार-सी निकल रही थी। वह कम्बल में लिपटा था।

जयराज सुदर्शना को बेंच पर बैठा छोड़कर दफ्तर में आया। उसने कहा, "बाबूजी !"

बाबू सपना ले रहा था। उसने चौंककर आँखें खोलीं। मुँह की लार पोंछी। तभी उसने पिछले स्टेशन से रेल के छूटने की घंटी सुनी। और तभी सुना, एक आदमी कह रहा है, 'बाबूजी !' उसने कहा—

"क्या है ?"

जयराज ने कहा, "एक कम्बल की जरूरत है। आप दे सकेंगे ?"

बाबू ने अँगड़ाई ली, घड़ी की ओर देखा, कम्बल को उतार कर अलग रखा, कहा, "नहीं है, बाहर निकलो।"

जयराज ने कहा, "सरदी ज्यादा है। अभी बारिश होकर चुकी है। कम्बल आपको लौटा दिया जायगा।"

नींद-जड़ी मुद्रा से बाबू ने कहा, "नहीं है, दफ्तर से बाहर जाओ।"

जयराज ने आगे बढ़कर कम्बल उठा लिया, कहा, "कम्बल तो यह है। तो आपका नहीं है ? यह यहीं पहुँच जायगा" कहकर कम्बल लेकर जयराज चुपचाप बाहर निकल गया।

सुदर्शना बेंच पर बैठी सामने देख रही थी। रेलें बिछी थीं और आपस में कटती-फँटती जहाँ-तहाँ चली जा रही थीं। उन पर पानी की चमक ठहरी थी, और स्टेशन के धुँधले प्रकाश में वहाँ कभी-कभी चाँदी की किरनें बिछी-सी लगती थीं। सुदर्शना कम्बल ओढ़े थी। भीतर के वस्त्र उसके भीगे थे। उसे सरदी लग

रही थी और रह-रहकर वह काँपती थी। ओढ़े हुए कम्बल में से भी पानी पार हो गया था और वह बदन को ठण्डा-ठण्डा लगता था।

जयराज ने कहा, "कम्बल भीगा है, उतार डालो। लाओ, मैं फैला दूँ।"

उसने कम्बल को हाथ लगाया और सुदर्शना ने उसे झट उतार कर अलग कर दिया।

जयराज ने बेंच के पीछे उसे सुखा दिया और नया कम्बल सुदर्शना के हाथ में देते हुए कहा, "लो इसे ओढ़ लो। कुर्ता गीला है, लाओ मुझे दो, निचोड़ कर सुखा दूँ।"

सुदर्शना ने सुना, कम्बल हाथ में लिया और बराबर बेंच पर रख दिया, ओढ़ा नहीं।

जयराज ने एक-एक कर अपने सब कपड़े उतार दिये। वह सिर्फ धोती के ऊपर बनियान पहने हुए था।

सुदर्शना ने कम्बल बराबर में रख दिया और यह नहीं कहा कि कम्बल यह रखा है, तुम ओढ़ लो। और लटके हुए पैर बेंच पर लेकर गीली धोती के पल्ले को तान, दोनों हाथों के बीच अपना सिर लिए वह ऐसी बैठ गई मानो अब कुछ देखना नहीं है, करना नहीं है। जयराज व्यस्त होकर उसके पास बेंच पर आ बैठा और कम्बल खोलकर उसे उढ़ाने लगा।

सुदर्शना मानो नींद में थी, उसे कुछ जैसे पता नहीं चल रहा था।

जयराज ने कहा, "कुर्ता उतार दो और जरा लेट जाओ, आराम कर लो।"

सुदर्शना मानो सुषुप्ति में सब-कुछ करने लगी। वह कुर्ता भी

उतार देगी, लेट भी जायगी। उसने कुर्ता उतार कर अलग कर दिया और जैसे नींद की झोंक में वह झुकी पड़ने लगी। बीच ही में सम्हाल लेकर जयराज ने कहा—

"सुदर्शना, सुदर्शना! देखो गिर मत जाओ, ठीक से लेटो।"

और सुदर्शना उसकी गोद में ढुलक पड़ी।

जयराज न समझ सका कि क्या करे और वह अपनी गोद को यथावस्थित रख कर बेंच पर इस प्रकार बैठ गया कि अब तो मानो उसे उठना नहीं है। उसकी गोद में यों पड़ी हुई असहाया को किस प्रकार हटा देकर वह यहाँ से उठेगा? वह इस भाँति बैठ गया कि गोद-वाली को कोई असुविधा न हो। सुदर्शना गोद में गिर पड़ कर, कुलबुला लेकर मानो वहाँ अपना स्थान ठीक करने लगी। पैर और हाथ चलाकर उसने कम्बल को ठीक-ठीक ऊपर ले लिया। कम्बल इस भाँति कुछ जयराज के ऊपर भी आ गया। घोंसला सा बनाकर वहाँ फिर अपनी जगह को ठीक-ठीक करके उसकी गोद में जो चिड़िया चिपक सोई है, जयराज मानो थपका-थपकाकर उसे सुलाना चाहने लगा। उसने कहा, "सरदी लगती है?"

सुदर्शना उत्तर में गोद में कुछ कुलबुला कर और सिमट गई।

जयराज अत्यन्त उत्तिष्ठ होकर सामने देखता हुआ बैठा रहा।

उसके निर्वस्त्र गात पर कभी अत्यन्त शीतल कोमल-स्पर्श देह का स्पर्श होता था। वह देह मानो उसके गात पर अपने को छोड़ दे रही थी। ऐसे समय उसके शरीर में बिजली दौड़ जाती थी। तब वह जपता—राम, राम, राम, राम।

राम क्या है उसने नहीं जाना। वह कभी नहीं जानेगा। पर राम के नाम के जप को वह ऐसा कातर बनकर, ऐसा प्रार्थी बनकर

थामे रहता मानो यही उसका अन्तिम सहारा है। वह जल्दी-जल्दी कहता—राम, राम, राम, राम।

चिड़िया घोंसले में अब आराम से सोई पड़ी है। आराम से? हाँ, आराम जब कम होता है, वह कुलबुलाकर करवट ठीक कर लेती है। उसकी धोती भीगी है सही, पर कम्बल के नीचे उसे गर्मी भी मिल रही है।

जयराज को लगता है, इस भटक गई हुई चिड़िया की छाती की धड़कन उसे सुन पड़ रही है। उसे मालूम होता है कि उसे चैन मिल रहा है। उसे मालूम होता है कि उसकी अपनी देह में भी गर्मी आ रही है। मालूम होता है कि उसकी देह में उद्धतता भी चढ़ती आ रही है। कि...और जल्दी-जल्दी मन-मन में वह कह रहा है—राम, राम, राम, राम।

सुदर्शना ने 'आँह' किया, 'ऊँह' किया, और इस बार जो उसने अपनी करवट ठीक की, तो दोनों बाँहें जयराज के इधर-उधर पड़ गईं और शरीर का उत्तर-भाग जँघाओं पर आराम से टिक गया।

उस समय जयराज का साँस तेजी से आने-जाने लगा। वह सीधा उठकर भाग जाता। पर वह बाल-भर भी हिला-डुला नहीं। उस शरीर के कोमल दबाव को और उस जीवित नारी-माँस-स्पन्दन को जो श्वास-प्रश्वास के साथ नीचे-ऊपर होता था अपने ही शरीर पर सटा पाकर वह उस शरीर को निस्पन्द जड़, अचेतन बना देना चाहता था। पर, वह जप रहा है—राम, राम, राम, राम।

इस जगतीतल पर हे राम यह क्या है?...हे राम, राम, राम, राम।

इतने में प्लेटफार्म को हिलाती हुई रेल स्टेशन पर आई और जयराज की आँखों के सामने ठहर गई। जयराज की गोदी में पड़ी

एक चिड़िया सुख की नींद सो रही है। वह अब क्या करे ? इस गाड़ी से तो उसे जाना है। रेलगाड़ियों की खिड़कियों से रोशनी आ रही है। रेलगाड़ी के उन कमरों में लोग सोये होंगे और सवेरा होगा कि वे अपने-अपने घर होंगे। उसमें बारिश भी नहीं जाती है और हवा से बचने को खिड़कियाँ भी लगाई जा सकती हैं।

उसने मानो अपनी टाँग कुछ हिलाई। उसके मन में आया कि वह कुछ कदम आगे बढ़कर एक-दूसरे दर्जे के डब्बे में पहुँच सकता है। वहाँ बिछा गद्दा होगा, जो सूखा होगा। हाँ, यह बेचारी भी क्या दूसरे दर्जे की बेंच के गद्दे पर अधिक आराम नहीं पायगी ? कुछ मिनटों में फिर कहाँ रहेगा हरीपुर और कहाँ रहेगा स्टेशन। उसने मानो चाहा कि उसे जगा दे और कहे कि देखो, रेल आ गई है, चलो, चलें। लेकिन मानो उसने सहसा ही अपने को सावधान कर लिया। वह स्थिर दृष्टि से रेल को देखता रहा, जो उन दोनों को आराम भी दे सकती है और छुटकारा भी दे सकती है। वह रेल अभी चल देगी और बात की बात में हरीपुर से दूर हो जावेगी। उसने अपनी गोद में सोई हुई नारी को देखा। मानो पूछना चाहा, "क्या तुमको सोना ही है ? क्या मेरी गोद सदा इसी तरह बनी रहने को है ? क्या तुम्हें कहीं आना-जाना नहीं है ? रेल आई है, उठो, खड़ी होओ।"

लेकिन वह चिड़िया आराम से साँस लेती हुई वहीं पड़ी रही।

जयराज ने अपने को कुछ समेटा-सा। उसने जोर की आवाज देकर एक आदमी को पास बुलाया और उससे कहा, "भाई बिलासपुर का एक टिकट ला सकते हो ? यह उसने इस तरह कहा कि सुदर्शना को बिना सुनाई दिये न रहा। सुदर्शना इस पर गोद

में कुलबुलाई और उठ बैठी। बैठकर झट ऊपर से कम्बल उतार कर अलग करते हुए उसने कहा, "लो।"

जयराज ने कहा, "क्यों-क्यों ?"

सुदर्शना ने उसी भाँति कम्बल उसकी ओर को अलग थामे रहकर कहा, "लो, तुम जाओ।"

उस समय जयराज को कुछ भी नहीं सूझा। वह सुदर्शना को देखता रह गया। सुदर्शना की आँखों में न अभियोग था, न निराशा। वे आँखें कहती थीं कि वह कुछ नहीं है। और तुम जहाँ चाहो चले जाओ। वह दुनिया में चाहे-जैसे रह लेगी। तुम उसके लिए अपना एक पल भी क्यों खोओगे ? निरुपाय ? तो रह लूँगी निरुपाय। लेकिन तुम अवश्य ही चले जा सकते हो। वह अपनी फैली बाँहों में कम्बल थामे अपनी इकहरी गीली धोती में बैठी है, कि लो और जाओ, और भगवान् तुम्हें सुखी रखे। मैं ? मैं सब ठीक हूँ।

जयराज ने कहा, "क्यों, क्या बात है ?"

सुदर्शना ने कहा, "इस गाड़ी से तुम्हें जाना है, तो लो।"

जयराज ने कहा, "कोई बात नहीं। दूसरी से चला जाऊँगा।"

सुदर्शना कुछ क्षण तो उसे देखती रही। फिर कम्बल खोल और उसे अपने ऊपर लेकर चुपचाप उस गोदी ही में लेट गई।

इतने में रेल ने सीटी दी। वह सरकती जाने लगी। जयराज पराजित दृष्टि से जाती हुई रेल को सामने देखने लगा। वह सामने से निकलती हुई चली गई। निकल जाने पर उसकी जगह में समा कर अँधेरा फिर वैसा ही सुन्न खड़ा हो गया।

उस शून्य को भेद कर टिकने योग्य आधार पाने के यत्न में

जयराज आँख गड़ाकर उस अँधेरे को देखने लगा। पर, वहाँ कुछ न था। शून्य सूना था, रेल निकल गई थी और सुदर्शना गोद में सोई थी। वह कहने लगा, "राम, राम, राम।"

रेल के निकल जाते ही उसे बेहद सरदी मालूम होने लगी। उसने हाथ मले, सीटी बजाई, सिर खुजलाया, फिर वह कम्बल के नीचे लेटी हुई सुदर्शना के सिर को धीरे-धीरे थपकाने लगा।

सोई-सोई सुदर्शना ने भीतर ही में कूजकर कहा, "कम्बल ओढ़ लो। सरदी बहुत हो रही है।" और एक हाथ से उसने कम्बल को ऊपर ऊठा दिया। जयराज ने भी कम्बल को अपने कन्धों तक ले लिया और उसके हाथ की उँगलियाँ कमर तक गए और फैले हुए सुदर्शना के बालों में फिरने लगीं। उसकी उँगलियाँ अव्य-वस्थित पड़े और ठंडे हो रहे बालों को सुरझाती और उरझाती सुदर्शना के सिर से कटि तक और कटि से सिर तक अलग-गति से फिर रही थीं और वह वेगपूर्वक राम-राम जप रहा था।

सुदर्शना का शरीर उसके गात पर दबाव देकर चिपटता ही आया। तब उसने सुदर्शना के बालों में घूमते हुए हाथों को एकदम उठा लिया और वह सीधी निगाह से अँधेरे में देखने लगा। दुनिया से हटा और उसके विधि-निषेध से मुक्त, दो घड़ी रुक कर वहाँ से चले जाने के लिए जब सब आँखों के अभाव में यहाँ वह स्टेशन की बेंच पर बैठा है, तब क्या है जिसकी उसे आशंका हो? क्या है जिसे उसे रोकने की जरूरत हो? क्यों नहीं निर्भय होकर सब-कुछ के प्रति वह अपने को खोल देता है? द्वन्द्व काहे का? 'न'-कार किसके प्रति?

पर उसकी देही गरमा रही है। वह कह रहा है, "राम, राम, राम, राम।"

सुदर्शना क्या चाहती है? लेकिन, वह तो कुछ भी नहीं चाहती। वह सो रही है, क्योंकि यह सोने का समय है और उसकी आँखों में नींद है। वह गोद में सो रही है, क्योंकि यह गोद उसके और बेंच के बीच में आ गई है। एक-वस्त्रा होकर सो रही है, क्योंकि और कपड़ा भीगने पर सुखाने डालने के लिए उससे माँग लिया गया है। वह तो इस अँधेरे पहर में सोना ही चाहती है, क्योंकि यह सोने का समय है और उसकी आँखों में नींद है।

आज की रात में सब-कुछ से छूटकर, आकाश और धरती के बीच में अपने लिए वह अकेली बन गई है। वहीं, उसी खोखले अज्ञात से यह आदमी आ मिला है, जिसको इतना जानती है कि वह जयराज है। उसके ऊपर और नहीं उसे जानना मिला कि वह क्या है? जयराज में उसको क्या निषिद्ध है? विधि-निषेध, इस सबसे तो वह परे हट आई है। किसके लिए अब उसमें अपनापन है और कि किसी से बँधने और किसी ओर से हटने का विधान उसके लिए भी हो? जब कुछ उसने अपने लिये अनिवार्य नहीं रखा है, तब निषिद्ध भी क्या उसके लिए हो सकता है?

इसलिए चिपट-चिपटकर, कुलबुला कर और करवटें ले-लेकर ठीक आराम की व्यवस्था बनाकर वह इस गोद में लेटी है।...हम पूछें, क्यों बालक माँ की गोद के साथ अधिक-से-अधिक घनिष्ठ न हो? बालक के आराम पर कौन उँगली उठा सकता है? उसमें लज्जा कहाँ है, उल्लंघन कहाँ है, उस रस में मैल भी कहाँ है?

और सुदर्शना जयराज की गोद में लेटी है, क्योंकि दुनिया दखल देने को उपस्थित नहीं है और यह समय सोने का है। उसमें बाधा कहाँ है? अविश्वास कहाँ है? उसने चिन्तापूर्वक कुलबुला

कर उस गोद में अपने अतिशय आराम की व्यवस्था कर ली है। उसने वहाँ तकिया भी बना लिया है, गद्दा भी पा लिया है और रजाई की गर्मी भी उसने बना ली है। जग से टूटी, अतीत से परोक्ष, सब तरह के नातों के अभाव में वह निरी शावक, निरी चिड़िया बनी यहाँ आराम से सो रही है। कल क्या था,—राम जाने। कल क्या होगा,—नहीं हिसाब। अगले ही मिनट क्या हो जायगा,—नहीं प्रतीक्षा। कैफियत उसे कहीं भी पहुँचानी नहीं है। वह अतीत से दबी नहीं है, वर्त्तमान से शंकित नहीं है, भविष्य से प्रार्थी नहीं है।

जो है, है। वह उसी में सम्पूर्ण है, उसी में उपलब्ध है। वह आराम से सो रही है। और यह समय सोने का है।

उसने कूज कर पूछा, "तुम्हें नींद नहीं आरही ?"

जयराज ने अँधेरे में आँख फाड़ कर देखने की कोशिश से हैरान होकर, इस मानो अपने ही भीतर से आते हुए प्रश्न को सुना। जैसे दूर से फिर भी बिलकुल पास से कहीं कोई पूछ रहा है, "तुम्हें नींद नहीं आरही है ?" उस समय मानो अपने से झगड़ कर उसने उत्तर फेंका, "नहीं, बिलकुल नहीं।"

किसी ने फिर कूजा, "रात बहुत हो गई है"

जयराज ने जैसे आगे बढ़ती आती हुई चुनौती को ललकार के साथ स्वीकार किया हो, कहा, "हाँ, रात बहुत हो गई है।"

इन शब्दों की ध्वनि के भीतर भरे अप्रेम और परुषता ने मानो सुदर्शना के भीतर पहुँच कर चैन से कूज उठे उसके जी को ठोकर दी। वह उठकर बैठ गई।

"क्यों, क्यों ?"

बोली, "मैं बैठ जाती हूँ। तुम लेट लो।"

जयराज ने सुदर्शना को देखा। उन आँखों में न अभियोग था न निराशा। उनमें कुछ भी माँग न थी, स्निग्ध स्वीकृत ही थी। किन्तु जयराज फिर भी अपने आप एक व्यर्थता के बोध से घबरा-सा गया। यह नारी उससे कहे, "मैं बैठती हूँ तुम लेट जाओ?" उसने रूखे पड़कर कहा, "नहीं, मुझे नींद नहीं है।"

सुदर्शना ने थोड़ी देर बाद धीमे से पूछा, "क्या बजा होगा?"

"साढ़े बारह तो हो गया होगा।"

"बहुत सरदी है!"

"हाँ, बहुत सरदी है।"

कुछ देर हो गई और दोनों चुप रहे। तदनन्तर सुदर्शना धीमे स्वर से बोली, "तुम लेट जाओ, मैं कहती हूँ।"

मानो सुदर्शना के भीतर की माता ने यह कहा।

इस निर्व्याज भाव से प्रकट हुई सुदर्शना की सत्-चिन्ता ने जयराज के व्यर्थ भाव से कठोर हो रहे चित्त को हलके से छू दिया। जयराज के भीतर का तनाव मानो एक साथ ही ढीला हो गया। उसने बिलकुल ही बदल गई वाणी से कहा, "नहीं, नहीं...।"

सुदर्शना कहना विचारती थी कि खाली बेंच पर मैं आराम से सो जाऊँगी, तुम मेरी फिकर न करो। लेकिन "नहीं, नहीं" स्निग्ध वाणी के प्रति वह ऐसी कृतज्ञ हो उठी कि उसके मुँह से यह बात निकल ही न सकी।

उस समय दोनों के भीतर यह एक ही उदय हो आया कि इन दोनों के बीच किसी प्रश्न और उत्तर की अपेक्षा नहीं है। इन दोनों में किसी परिचयापेक्षा का भी व्यवधान नहीं है। दोनों जैसे काल के आदि से चिर परिचित हैं, चिर अभिन्न हैं। कि दोनों

के बीच की वाणी मौन है और शब्द झमेला हैं। शब्द मात्र अपने आवरण के लिए हैं। जब अपना सामना करते कठिनता होती है, जब यत्नपूर्वक अपने प्रति विमुखता अपनानी होती है—तब बीच में मानो अन्तर डालने के लिए वह भाषा और ये शब्द हैं। और ये दोनों तो मानो वहाँ पहुँचकर परस्पर प्राप्त हैं जहाँ शब्द मौन में ऐसा खोया है जैसे बूँद सागर में।

सुदर्शना कृतज्ञता में विभोर हो गई और एक क्षण भी बैठी न रहकर फिर जयराज की गोद में उसी भाँति गिर गई और उसी मिनट सो गई।

उस समय जयराज के आग्रहग्रस्त पौरुष में हठात् स्निग्धता आ गई और उसने प्रतीति पाई कि सुदर्शना ऐसी अछूत नहीं है, ऐसी भूत नहीं है कि राम-नाम के जप से उसकी छूत भगानी ही हो। उसके भीतर के तने हुए बन्धन शिथिल हो आए और, स्नेह-स्निग्ध, उसने सुदर्शना के सिर को थपकते हुए कहा, "सुदर्शना तुम क्या सोचती थीं कि मैं तुम्हें याद करता हूँगा?"

सुदर्शना ने कहा, "हमें नींद आ रही है।"

यह सुनकर जयराज के मानस तथा शरीर के स्नायुओं का उत्तेजन एकदम अनावश्यक होने लगा। तब उत्तरोत्तर स्वस्थ और अनुद्विग्न और अकुण्ठित भाव से सुदर्शना को गोद में लिए रहकर उसके बालों में वह अपने हाथ फेरता रहा।

सुदर्शना ने थोड़ी देर में कहा, "सोते नहीं हो?"

जयराज ने उसका सिर थपका कर कहा, "नहीं, मुझे नींद नहीं आ रही है।"

कुछ देर बाद उसने भी पूछा, "सुदर्शना, तुम सोती हो?"

सुदर्शना ने मानो आधी नींद में कहा, "हमें जी नींद आ रही है।"

सुदर्शना के सिर और गाल पर धीरे-धीरे थपक कर जयराज ने कहा, "अच्छा, तुम सोओ—कम्बल ठीक ओढ़ लो।...सुदर्शना, मैं अभी सोचता था, मैं तुम से कहूँ कि आओ, यह रात हम जागे-जागे काट दें। आओ, हम बातें करें कि रात सबेरे से मिल जाय लेकिन तुम सोओ। मैं स्वार्थी नहीं बनूँगा।"

सुदर्शना ने कुनमुनाकर कहा, "हमें जी नींद आ रही है।"

"हाँ हाँ, तुम सोओ।"

जयराज कहने लगा, "मैं नहीं जानता था सुदर्शना, कि मुझ में तुम अभी हो और तुमसे इस तरह मिलकर अपने भीतर वाली तुम को मुझे पा लेना है। और इस तरह तुम्हारे द्वारा ही मैं अपने को ज्यादा पाऊँगा, मैं नहीं जानता था। अकेला चलता रहा। आशा हार-हार रहती थी और जीवन रेगिस्तान लगता था। लेकिन फिर-फिर कर मैं राष्ट्र के नाम को पकड़ लेता रहा और चला चलता रहा। मैं चलता ही चला आ रहा हूँ। मैंने पीछे की तरफ नहीं देखा, आगे राष्ट्र को रखकर वहीं आँख गाड़ मैं भागता रहा। जी हारता और मैं आँख मीच लेता। मैं कहता, 'राष्ट्रदेवो भव।' कोई हिम्मत देने वाला न था, न कोई ढाढस बँधाता था। कोई न था जिसमें अपने को बाँट लेता, कोई न था, जो कहता, चले चलो, मैं भी हूँ। सब थे जो कहते थे, आइए, व्याख्यान दे जाइए। कोई न था जो कहे, आओ पानी पी लो। चला चलूँ, यह सब को अभीष्ट था। चलने का सामर्थ्य और हौंस देने वाला कोई न था। लेकिन यह झूठ था। अपनी पीठ की तरफ कैसे कोई भाग सकता है। लेकिन मैं यही करता रहा। अपने से मुँह मोड़कर

पाखण्ड करता रहा। अपने को इन्कार करने से क्या चलेगा, सुदर्शना !"

करवट बदलते हुए सुदर्शना ने कहा, "हमें जी नींद आ रही है।"

"हाँ ! सोओ, सोओ, सुदर्शना। मुझे माफ करो।" और वह आग्रहपूर्वक चुप हो गया।

उसने देखा, आधी रात बीत गई है। बादल उड़ गये हैं, तारे, आँख खोल-मींचकर दुनिया को देख रहे हैं।

उसने कहा, "सुदर्शना सोती हो ?"

नींद में सुदर्शना कुनमुनाई—"उँ-उं-उँ !"

"सुदर्शना, मैं राष्ट्र के लिए जिया। लेकिन जीवन-रस तो मुझ में से चुकता ही गया। कहाँ से विसर्जित करने के लिए प्राण पाता रहा, मैं नहीं जानता था। लेकिन अब तो जानता हूँ। सुदर्शना, तुम युग-युग जियो। जहाँ रहो सुख से रहो। हम क्या उस स्रोत को जानते हैं जहाँ से हमें जीवन-रस मिलता है ? लेकिन वहाँ स्नेह है, यज्ञ है। अब मैं देखता हूँ, मैं कभी अकेला न था। सदा ही अमृत से रक्षित मैं चलता रहा। सुदर्शना...तुम सोती हो ?"

सुदर्शना ने जैसे गाढ़ी नींद में कुनमुनाया—"उँ-उँ-उँ !"

"सोओ, सुदर्शना, सोओ।" जयराज ने उसके गालों पर थपकते हुए कहा, "जहाँ रहो, सुख की नींद सोओ। एक रोज मिट्टी की गोद भी होगी। लेकिन, मैं कहता हूँ वहाँ भी तुम सुखी रहोगी। मैं अनन्त जीवन नहीं मानता। न अनन्त प्राण मानता हूँ। लेकिन मेरे लिए तो प्रणय का क्षण भी अनन्त है। सत्य जीवन का क्षण भी शाश्वत है।...क्या पति को छोड़कर यहाँ आगई हो ? किन्तु स्नेहमयी के लिए भगवान् कहाँ नहीं है ? और उसके लिए

वर्ज्य क्या है ? नियम कहाँ है ? मैं आज जानता हूँ, यज्ञाहुत स्नेह सदा विजयी होता है। वह बन्धन तोड़ता है, क्योंकि वह मुक्तिदाता है। वह कभी असंयत नहीं है। क्योंकि सदैव वह निर्बन्ध है, निर्बाध है।..."

सुदर्शना ने बेचैन एक करवट ली।

"सुदर्शना, सोओ, सोओ। मैंने अपने स्नेह को अस्वीकार करना न चाहा। मैंने उसे इन्कार-कर नष्ट कर देना चाहा। आज तुमने मुझे सीख दी कि यह सब वृथा था। मेरा अहङ्कार था। इस अहङ्कार में मुझ से यज्ञ क्या बनता ? राष्ट्र-सेवा क्या बनती ? आज मैंने जाना, स्नेह अङ्गीकरण के लिए है, अस्वीकरण के लिए नहीं।... सुदर्शना, सोओ, सोओ।"

फिर उसने तारों की ओर देखा। ये तारे सैकड़ों बार उसने देखे हैं। आज जैसे वे तारे उसके बिलकुल अपने ही हो गये हैं। उनमें के एक-एक को मानो 'तुम' सम्बोधन से पुकारकर पूछना चाहता है, "जयरामजीकी, भाई, कहो, तुम हँस रहे हो, अच्छे तो हो !"

उसने कहा, "सुदर्शना सोती हो !"

सुदर्शना कुलबुलाई और अपने दोनों ओर से कम्बल समेट-कर सटा लेने के लिए वह उठना-सा चाहने लगी।

"क्या है, क्या है ?"

"ऊँह, इधर जाने कहाँ से हवा ठण्डी-ठण्डी लगती है !"

जहाँ बताया गया उधर से जयराज ने टटोलकर देखा। टाँगों के पास की धोती बहुत गीली थी, और वहाँ बेञ्च में की दर्जों से हवा आकर बेहद सर्द लगती थी। बोला, "ओ हो, धोती तो बेहद भीगी है !"

ऊपर अनवगुण्ठित तारे खिले थे। काला व्योम तना था। और नीचे धरती स्थिर और नग्न, तारों की आँखों के नीचे खुली और मग्न बिछी पड़ी थी। इस महाव्योम के तले स्त्री क्या है, पुरुष क्या है? आवरण क्या है? और निरावरणता भी क्या है? वे सब एकदम कुछ नहीं हैं। मात्र सुदर्शना सुदर्शना और जयराज जयराज है। इस बोध के अतिरिक्त किसी भी और तुच्छता के लिए वहाँ अवकाश न था।

उसने कहा, "सुदर्शना, धोती उतार डालो। सूखे हिस्से की तह करके मैं नीचे बिछाये देता हूँ, तब सो जाना।" यह कहकर वह अपेक्षा करने लगा कि धोती उसे मिले और वह तह करके उसे बिछा दे।

सुदर्शना ने उठकर उसकी ओर देखा—

निकट था कि जयराज को अपने शब्दों में कुछ अनौचित्य का भान हो आवे कि तभी सुदर्शना ने मानो झोंककर धोती अलग करते हुए कहा, "हमें नींद आ रही है, हाँ तो।"

जयराज ने तुरन्त उठकर धोती की तह कर दी और सूखे हिस्से को ऊपर रखकर बिछाते हुए कहा, "लो, अब लेट जाओ।"

कहकर वह चलने लगा। सुदर्शना ने अपने को सर्दी से अच्छी तरह ढँकते हुए पूछा, "तुम कहाँ जाते हो?"

"मैं जरा वक्त देख आऊँ। अभी आया।"

"नहीं..."

"अभी आया। मैं अभी आया।"

"नहीं, नहीं..."

जयराज आकर बेञ्च पर सुदर्शना के पास बैठ गया। तब सुदर्शना अनायास उसकी गोद में ढुलक गिरी। जयराज ने अत्यन्त

निराविष्ट भाव और हल्के चित्त से हँसकर कहा, "क्यों जी, तुम्हें यह ख्याल नहीं होता कि मैं वैठे-वैठे थक भी सकता हूँ ?"

सुदर्शना ने करवट बदलते हुए किया, "ऊँ–ऊँ–ऊँ–ऊँ।"

इस कुनमुन-कुनमुन कूजती हुई जयराज के गोद में पड़ी हुई चिड़िया को क्या यह मालूम है कि यह स्टेशन है, स्टेशन का प्लेटफार्म है, प्लेटफार्म की बेञ्च है और यह कि न वह चार साल की बच्ची है और न चोंच-पर वाली चिड़िया ही है ? क्या उसे मालूम है कि यह स्टेशन, यह प्लेटफार्म, यह वेञ्च, और यह जयराज उसी दुनिया के अन्तर्गत हैं जहाँ विधि-निषेध का असद्भाव नहीं है और जहाँ उचित-अनुचित भी है, हया-शर्म भी है। पर, हमें नहीं मालूम। इतना हम जानते हैं कि धोती के बिछ जाने से सर्दी सचमुच रुक गई है और वह कूजती और कुनमुनाती बड़े सुख से गोदी में सोई है।

...अरे ओ, ढँके-ढँके मानव, जो दूसरे की आँख से अपने को ढँकता है, सूरज की धूप से अपने को ढँकता है, हवा के स्पर्श से अपने को ढँकता है, सच की जोत से अपने को ढँकता है, अरे क्यों, कपड़ों से लदा-लदा ही क्या तू सभ्य है ? कपड़ों को उतारने के साथ-साथ क्या तेरी सभ्यता, तेरी सम्भावना तिरोहित हो जावेगी ? क्यों रे, लदे-ढँके मानव ?...

लेकिन सुदर्शना गीली धोती को अलग करके कुनमुन कुलबुल करती हुई जयराज की गोद में पड़ी है। और जयराज अपने हाथ के स्पर्श से उसे गर्मी दे रहा है।

जयराज ने कहा, "सुदर्शना सोती हो ?"

सुदर्शना ने किया, "ऊँ–ऊँ–ऊँ।"

"मेरी गाड़ी चार बजे और जाती है।"

"ऊँ-ऊँ-ऊँ।"

"दो बज गया होगा !"

फिर वही, "ऊँ-ऊँ-ऊँ।"

"सुदर्शना, अब तुम क्या करोगी ?"

"ऊँ-ऊँ-ऊँ।"

सुदर्शना के गाल पर, कुछ रीझ में और कुछ खीझ में, थपकते हुए जयराज ने कहा, "अच्छा, सोओ सुदर्शना। मत ही सुनो और सोती ही रहो।"

और तारे, उज्ज्वल, अगणित, बुन्दियों-से तारे, काले व्योम पर खिले टँके थे। और धरती अनावृतवक्षा, प्रमदा की नाईं प्रतीक्षा में थकी उनके नीचे चुप सोई थी।

* * *

सबेरा होने लगा। पक्षी चहचहा आये। तारे खो गये। उस समय सुदर्शना जागकर उठी। जयराज बेञ्च की पीठ पर सिर टेके ऊँघ रहा था। प्लेटफार्म सुनसान था। उसने धोती उठाकर पहन ली, कुर्ता पहन लिया, फैले हुए कम्बलों को तहाकर बेञ्च पर रख दिया। उसके मन में न अभाव था, न अभियोग। जैसे अब उसे कुछ पाना शेष न था। सबेरा उसे प्यारा लग रहा था और उसके मन में पूर्णता उमगी आ रही थी। किसी के प्रति उसमें धिक्कार का लेश न था। उसने सोते हुए जयराज को देखा। जिसकी गोद में अभी वह शावक की भाँति पड़ी थी, उसी के लिए उसके हृदय में एक मातृत्व का-सा भाव हिलोर ले आया। वह सोचने लगी कि क्या मैं अपनी गोद में तकिया देकर कम्बल उढ़ा-कर इस बेचारे को नहीं सुला ले सकती ? किन्तु इसमें इसकी नींद भङ्ग हो जायगी।

वह इस रात के गर्भ में से फटते उठते प्रभात को देखने लगी। उसके मन में का सब संशय भाग गया। अभाव विलय हो गया। अशेष प्रश्न, उसका जी मानो चारों दिशाओं को एक साथ अभिवादन देना चाहता है। सब ओर उसे प्रीति, सब ओर मङ्गल है। इस प्रभातकालीन उषा के प्रकाश में उसने जयराज को देखा। कौन उसके लिए आज वर्जित है, कौन उसके लिए निषिद्ध है। किसके साथ पार्थक्य उसके लिए अनिवार्य है। 'अरे, कोई नहीं, कोई नहीं।' सका हृदय मानो चारों दिशाओं में आलिङ्गन प्रसार करता हुआ आवाहन का गान गा उठा। मानो बाहें फैलाकर उषा से, वनस्पति से, आकाश से, सब से वह चाहने लगी, "मुझे लेओ, मुझे लेओ। मैं अस्वीकृति नहीं दूँगी, अस्वीकृति नहीं लूँगी। सब मुझ में आ जाओ। और सब मुझे लेओ, मुझे लेओ।"

उसका मन स्वच्छता से भरता ही गया। उसे सामने मानो सब-कुछ सद्यःस्नात, ताजा, प्रस्तुत प्रतीत होने लगा। प्लेटफार्म के किनारे जाकर समानान्तर बनी प्रतिकूल दिशाओं में मानो अनन्त दूर जाती हुई उन लोहे की रेलों को वह देखने लगी। मानो इनमें भी वह चिर रहस्य और उसका वह चिर-रहस्याधिप अनुपस्थित नहीं है। इसमें भी वह रम-रम रहा है।

जयराज की आँख खुली। उसने देखा, गोद खाली है, और उसके पास दो कम्बल तह हुए रखे हैं। एक उसके कन्धों पर उढ़ाया हुआ है। उसने देखा, तड़का काफी फूट चुका है। उसे ख्याल हुआ—उसकी चार बजे की गाड़ी!! वह झपटकर उठा, कुर्ते को बाँह में डाला और देखा—एक ओर, दूर, सुदर्शना प्लेटफार्म के पास खड़ी है। उसने निकट जाकर कहा, "सुदर्शना!"

सुदर्शना ईषत्स्मित से मुस्कराई, "तुम उठ गये! देखो कैसा

सुहावना है।" और उसने प्राची की लालिमा की ओर संकेत किया।

जयराज ने कहा, "सुदर्शना !"

सुदर्शना ने कहा, "कम्बल मैं रख आई थी।"—

जयराज ने कहा, "सुदर्शना !"

वह पूछना चाहता है कि, सुदर्शना, अब ?

किन्तु सुदर्शना के भीतर सब प्रश्न शान्त हो गये हैं। उसने कहा, "कम्बल वहाँ रखे हैं न ?"

जयराज चुप।

सुदर्शना जयराज की वाग्बद्धता को अन्यथा नहीं समझ सकी। किन्तु स्नेह तो यज्ञ है। इसमें मेरा-तेरा कहाँ है ? इसमें स्नेह को लेकर समाज में उलझन कैसे पैदा की जा सकती है ? उसने कहा, "जयराज मुझे कुछ आज्ञा देना चाहते हो ?"

जयराज इतना ही कह सका, "सुदर्शना !" और चुप रह गया।

सुदर्शना ने कहा, "मैं जानती हूँ, तुम में मेरे लिए अपेक्षा नहीं है। जयराज, यही अनपेक्षता सब-कुछ है......। मैं अब जाती हूँ।"

"कहाँ ?"

"जाती हूँ।"

अब जयराज क्या पूछे कि, "कहाँ ?"

"मेरा प्रणाम लो जयराज, और मेरे आशीर्वाद लो। क्योंकि एक बात मैं तुम्हें बताती हूँ। मैं इसी वर्ष माता हो जाऊँगी। प्रभु तुम्हें सदा सुखी रखें ?"

जयराज ने पुकारा, "सुदर्शना !"

सुदर्शना नहीं ठिठकी, सो नहीं; पर जयराज के चरण छूकर प्रस्थानोद्यत उसने कहा, "मैं जाती हूँ।"

जयराज ने पाया वह कह रहा है, "जाओ," क्योंकि वह और कुछ भी नहीं कह सकता है।

"प्रणाम—"

—और, वह जयराज के सामने-सामने पीठ मोड़कर प्लेट-फार्म के किनारे-किनारे फूटती उषा की ओर बढ़ती चली गई, बढ़ती चली गई।

जयराज देखता रहा, देखता रहा। फिर लौट आया।

नादिरा

हम तीन काश्मीर के लिए चले। मैं, श्यामजी नारायण एडवोकेट और हृदयनाथ।

श्यामजी भाई प्रतिष्ठा, पैसे और कुनबे के भरे आदमी हैं। हृदयनाथ हृदय का और कुल का रईस है और उसे बुद्धिमान् होने की तनिक भी चिन्ता नहीं है। खुले दिल, खुली बात और खुले हाथ का आदमी है।

रावलपिण्डी जाने पर मालूम हुआ कि इस साल सर्दी ज्यादा है और अभी काश्मीर जाने के दिन नहीं हैं। वहाँ बरफ पड़ती होगी।

तब श्यामजी नारायण की सम्मति हुई कि इतने पन्द्रह-बीस रोज यहाँ ही ठहर जायँ। पास ही अटक है, तक्षशिला है। उन्हें देखा जा सकता है। पुरानी जगह हैं। तक्षशिला में तो गड़ा नगर ही खुद निकला है।

मुझे बासी लोगों के इतिहास से चिढ़ है। यह बासी इतिहास जिन्दगी के किस काम आता है? इतिहास पढ़कर बहुत कम लोग जीवन के साथ उसका तारतम्य बैठाते हैं। बहुत कम पुरानी बातों

को इसलिए जानते हैं कि उनसे आधुनिक बातों का सामञ्जस्य और साम्य सिद्ध किया जाए। इतिहास सिर में भर रखने की ही चीज़ है क्या ? क्या इतिहास वह चीज़ नहीं है, जिसे पचाने की भी ज़रूरत है ? भीतर पहुँचे, पके, गले और जीवन-रक्त बनकर हमारी धमनियों में प्रवाहित हो, क्या यह ज़रूरी नहीं है ? पर इतिहास और इतिहास के कङ्काल की ठठरियों में खूब जान-बूझ और खोज-बीन करने वाले लोग इतिहास को भोजन बनाते ही नहीं, लादे रखने को बोझ का गट्ठा-सा बना लेते हैं। वह मानो आलमारियों और दिमाग के कोनों में जमा रखा रहने वाला शास्त्रीय पदार्थ है। वह उनको सप्राण नहीं बनाता, बोझल करता है। इससे इतिहासज्ञ और इतिहासार्थी से मेरी उलझ पड़ने की इच्छा होती है।

मैंने कहा, "काश्मीर में बरफ पड़ती है, तो और भी भला है। तब तो ज़रूर ही चलना चाहिए। यही देखने का तो मजा होगा।"

एडवोकेट धीमे से मुस्करा दिया। मानो कि बुद्धिमत्ता मेरी बात के साथ यही कर सकती है, सविनोद उपेक्षा से जरा हँस ही सकती है।

मैंने कहा, "कहो हृदयनाथ, तुम क्या कहते हो ? हिमालय तक्षशिला से पुराना नहीं है ? हिमालय के शीर्ष पर और देह पर और उससे भी कहीं अधिक उसके हृदय में इतिहास से कहीं गम्भीर रहस्य और विलक्षण वैचित्र्य नहीं है ? हम सब सर्दी से और बरफ से डरते हैं। हम क्यों प्रकृति के उस स्वरूप से भयभीत होकर वञ्चित रह जायँ, जो हमने कभी पाया नहीं, पर जो अवश्य रहस्यमय है, विराट् है।"

हृदयनाथ ने कहा, "छोड़ो श्याम बाबू, न तक्षशिला चलो, न काश्मीर चलो। पहाड़ी की तलहटी के किसी गाँव में चलो। सूखे

मैदान से भी अलग होंगे और पहाड़ की तुम्हारी भीष्मता भी पास रहेगी. जब सर्दी सर्दी है और हम ऐसे हैं कि हमारे बदन को वह लगती है, तब कोरी उत्सुकता में पड़कर उसमें झुक पड़ना नादानी है।"

मैंने कहना चाहा कि तुम सब लोग भीरु हो। प्रकृति को खेलने दो और उसके सब खेलों में उसका साथ देने लायक अपने को बनाओ। घबड़ाओ मत और सबमें सौन्दर्य निहारो। लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं और देखने लगा कि एडवोकेट क्या कहते हैं। हृदयनाथ ने भी उनकी तरफ देखा।

एडवोकेट ने मानो, "अँह, सब ठीक है—तुम बच्चे हो, तुम्हारी बात ही सही" इस भाव से कहा कि भाई, श्याम बाबू क्या कहते हैं, उनसे भी तो पूछो। और यह कहकर वह फिर मुस्कराए।

मैंने कहा, "मैं कहता तो यही हूँ कि काश्मीर के हरियाले और श्यामल वासन्ती रूप पर हम मुग्ध हैं, तो जब धौली हिम की चादर ओढ़े वह निराभरण हो जाती है तब हम उसकी ओर से विमुख न हों। इतिहास और पुरातन का लगाव हम छोड़ें; विराट्, उज्ज्वल और अधुनातन के प्रति निर्भीक बनें, उसका स्वागत करें, ...यों जैसी आपकी इच्छा!"

एडवोकेट ने कहा, "श्याम बाबू, आप तो पूरे कवि हैं।" और यह कहकर मानो उन्होंने स्वीकार किया कि मैं सहानुभूति का पात्र हूँ।

हृदयनाथ गङ्गा गए तो उसका दास है, जमना के पास जमना-दास है ही। जमना जाने पर गंगा की भक्ति उसे आड़े नहीं आती और गंगा पहुँचकर, जमना आप ही आप पीछे पड़ जाती है। दुनिया में निरे-निरे सदाशय और सत्यार्थी आदमी को ऐसा

ही होना होता है। उसे सब की बातों में कुछ सच दिखलाई देता है। तब स्पष्ट ही है कि प्रबल की बात अधिक सच लगती है। क्योंकि ऐसा न होता तो प्रबल के प्रबल होने का अवसर ही कैसे आता ?

उसने कहा, "हाँ, श्यामबाबू आप कविता क्यों नहीं किया करते ? करें तो आप कमाल करें।"

मैंने कहा, "अच्छा, अच्छा," और मालूम करना चाहा कि अब कहाँ जाने की ठहरती है !

पूछ-ताछ करने पर पास ही एक गाँव मिला। वहीं जाना तय हुआ। वह बिलकुल पहाड़ के चरणों में बसा है, सुन्दर है, और वहाँ जल की और वनस्पति की खूब ही बहार है।

* * *

गाँव के दायें तट से पहाड़ एकदम ऊँचा उठा चला जाता था। उसकी चोटी की तरफ देखते डर लगता था। एक पहाड़ की चोटी ऊपर से टेढ़ी हो गई थी। ऐसा लगता था, अब गिरी, अब गिरी। वह किस भाँति यों धरती के प्रति पचहत्तर अंश का कोण बनाये अधर में लेटी थी, विधाता जाने। रात को काला-काला अँधेरा-सा वह पहाड़ गुम-सुम खड़ा हमें न जाने क्या समझता रहता होगा। हम दिया-बत्ती जलाकर, आग पर रोटी सेंककर, बातचीत करने और चलने-फिरने-वाले प्राणी, उसके चरणों में जी रहे थे। भीतर से जो पत्थर-पत्थर है, पर ऊपर से हरियाली ओढ़े है; जिसमें पानी की रजत-धाराएँ लहराती हुई खेलती हैं; और जिसकी देह पर जाने कितने प्रकार के विषधर और अमृत-प्राण प्राणी और नाना गुणों और रहस्यों को धारण करने-वाली जड़ी और बूटियाँ, कँटीले झाड़ और फूलों से लदी झाड़ियाँ हैं; जो

अनन्त वैचित्र्य, अनन्त प्राण, अनन्त कथा, अनन्त इतिहास और अकल्पनीय-मानव-मूल्य को लेकर चुपचाप आकाश की ओर माथा उठाए खड़ा रहता है—उस पहाड़ पर मैं सवेरे भी चढ़ने लगता था, शाम को भी चढ़ता था।

मैं चढ़ता था और विस्मय से भर-भर जाता था। इस पहाड़ की बनावट में कोई गणित न था और न ज्यामिति-शास्त्र से कोई परामर्श लिया गया था। गड्ढा कहीं भी बन सकता था और कोई पत्थर कहीं से भी उभर आ सकता था। जिस झाड़ी को जहाँ जगह मिले लग जाए, कोई रोक-टोक न थी। और पानी मन चाहे जहाँ से स्रोत फोड़कर खिल-खिल हँसता निकल आ सकता था।

जिसका सौन्दर्य हमारी व्यवस्था और सज्जा की परिभाषा की तौल में कहीं अपरिमेय है, जिसकी विराटता के नीचे हम कीड़े-से लगते हैं, जो हमें अपनी छाया में आच्छन्न कर लेता है, जो पत्थर का है, पर पानी झरता रहता है, जो माप पर नहीं बना है, पर जो हमारी माप-विद्या को अपने गहन सौन्दर्य से विस्मित कर देता है, जो अचल है, पर विशाल है; दृढ़ है, पर हरा है; रात-सा काला है और आसमान-सा नीला है—मैं उस पहाड़ को देखता हूँ और सोचता हूँ—इसमें जी नहीं है? यह मुझसे बात क्यों नहीं करता? मुझे क्यों इसकी नीरव भाषा की कुञ्जी प्राप्त नहीं है?

देखता—छोटी-छोटी गायें, सफ़ेद काली और भूरी; छोटी-बड़ी बकरियाँ, झबरीली, चितकबरी और रंगीली; खुट-खुट पाँव रखती हुई पहाड़ पर चलती चली जाती हैं और फैल जाती हैं। एक उस चोटी पर है, तो वह देखिए, दूसरी सामने की चोटी पर घास चर रही है। चरती जाती है और रह-रहकर चारों तरफ़ देखती जाती है। इस बड़े पहाड़ के साथ उनका इतना अपनापा है कि उसकी

सिर-पर की घास को मुँह-भर-भरकर यह गैयाँ, बकरियाँ खाती रहती हैं और यह दैत्य पहाड़ भी उनके पैरों के नीचे चुपचाप पड़ा रहता है।

और बकरियों की कुछ न पूछिए। डर उनके पास नहीं, फ़िक्र उनके पास नहीं, पतली टाँगें और छोटे खुर उनके पास हैं जो डिग नहीं सकते। और उन्हें क्या चाहिए? तो लीजिए, जहाँ हमारी आँख को ठहरते डर लगता है, समुद्र से सात हजार फीट ऊपर, अधर शून्य में बाहर की ओर निकली हुई पहाड़ की सुग्गे की-सी उस चोंच पर, बेधड़क बकरी पहुँच गई है और अपनी टाँगों को वहाँ थाम कर नीचे जगत् को ऐसे देखती है मानो सम्राज्ञी हो। देखो-देखो, वहाँ वह कैसी खड़ी है! पता ही नहीं चलता कि पिछले दो पैर कैसे टिक रहे हैं! और अगले दोनों पैरों की टापों को कँटीली झाड़ी के माथे पर चढ़ाए उसका सिर खाये जा रही है। अरी भलीमानस, कहीं गिर न पड़ियो! पर, 'गिरें उसके दुश्मन' इस बेफिकर भाव से वह बकरी झाड़ी का एक-एक पत्ता चुन जाने में लगी है।

शाम का वक्त था। गाँव पर छाया छा गई थी। पहाड़ की जिस-तिस उभरी चोटी पर अभी धूप का अवशेष था। घड़ी-दो-घड़ी में सूरज अब छिप जायगा। बकरियाँ चारों खूँट छाई थीं। एक उत्तर के पहाड़ की चोटी पर थी, तो दूसरी दक्षिण-वाले की छाती पर। तभी पहाड़ में टकरा-टकरा कर बिलकुल गोल बन गई हुई एक गूँज मुझे सुनाई दी। आर्यसमाजी नहीं हुआ, नहीं तो समझ जाता कि आकाश घन-घोष से 'ओ३म्' कह रहा है। वैसा घोर स्वर उससे पहले कानों में न पड़ा था। वह गूँजता था और गूँजता था। चारों ओर की दीवारों से टकराकर नीचे के शून्य

अंक में वह घने-पर-घना होता हुआ घूम रहा था। धीरे-धीरे क्षीण पड़ता हुआ वह लय हो गया। मैंने सोचा, यह किसकी आवाज़ है? कोई बहुत उच्च-घोष पुरुष होगा, यदि पुरुष है। थोड़ी देर बाद वैसी ही एक गूँज फिर सुन पड़ी। इस बार सब-कुछ ध्वनि में एकदम मिल नहीं गया था, कुछ अलग-अलग ध्वनियाँ भी थीं। मात्र स्वर न था, शब्द भी थे। लगा, ध्वनि में तारतम्य है, और आरोह-अवरोह-सा भी है। जान पड़ा, कोई व्यक्ति ही है, अनहद ओ३म् नहीं है। किन्तु कौन व्यक्ति शंख के समान ऐसा उद्घोषोच्चार कर सकता है। उस ध्वनि में बृहत् शंख-सी कण्ठशक्ति और अतुल फेफड़े का सामर्थ्य था। इस लम्बे-चौड़े आदमियों के प्रान्त में भी कौन वह आदमी है, जो ऐसा बादलों-सा पुकारता है। वह गूँज धीरे-धीरे गूँज कम और आवाज़ अधिक होने लगी। वह कुछ स्पष्टतर होने लगी और पास आती हुई-सी लगी। शनैः-शनैः उस भीम गर्जन की गूँज न रही और अब स्वतः वह रव ही कानों में पड़ने लगा। वह रव जहाँ से आता था उस कण्ठ के आश्चर्यजनक सामर्थ्य को बतलाता था। मैं रुका रह गया। मैं सोचता था, क्या असम्भव है, उस पहाड़ के साथ गाने वाला व्यक्ति इधर से ही आ निकले। अवश्य ही वह भरी दाढ़ी, लम्बे डील और चौड़े डौल का आदमी होगा। कुछ देर बाद वह ध्वनि राग बनने लगी और चीन्ह पड़ा अतिशय प्रबल कण्ठ से गाया जा रहा है—

ओ आजा-आ, ओ आजा-आ
मोरे किसुन कन्हाई, आ-जा-आजा।

मैंने सोचा इतनी जंगली और मर्दानी लताड़ के साथ इस अँधेरे में पहाड़ के ऊपर से किसुन-कन्हाई को बुलाने वाला कौन

है। आवाज़ निकट ही आती गई—

मोरे बंसरी-वाले आजा-आ-आ
मोरे बंसरी-वाले आ-आ-आजा।

मुझे मालूम होता था कि गाने-वाले को पक्का खटका है कि उसका बंसरी-वाला किसुन-कन्हाई हलकी टेर पर कान देने वाला नहीं है। जैसे कि वह खूब जानता है कि वह किसुनजी बंसी लेकर इस नीले आसमान के ऊपर कहीं जा बैठा है, और पूरे गले की टेर भी वहाँ तक पहुँच जायगी, इसका भरोसा नहीं है। इसीलिए वह कुछ रुक कर मानो श्वास का संचय करके दुगुने रव से फिर गा उठता है—

जसुदा के प्यारे आजा-आ-आ
राधा के प्रीतम आ-जा-आजा
मोरे किसुन कन्हाई आजा-आ-आ
ओरे बंसरी वाले आ-आ-आजा।

गीत मेरे पास ही आता गया और एकाएक मुझे जोर की सीटी सुनाई दी। जैसे गार्ड झल्ला गया है कि गाड़ी क्यों खड़ी है और मन की पूरी झल्लाहट फूँक कर उसने सीटी बजाई है। एक, दो, तीन, रुक-रुककर तीन बार सीटियाँ बजीं और उसके बाद फिर गाना शुरू हो गया—

मेरे राज दुलारे आजा-आ-आ
मेरे प्रीतम प्यारे आ-आ-आजा।

यह गाना मेरे बहुत ही पास आता गया। ज्यों-ज्यों पास आता, मैं अपने कान पर हाथ रखकर, गायक की कण्ठ-शक्ति पर विस्मित होकर रह जाता।

कुछ देर बाद मैं देखता हूँ कि जिस ओर से गाने की आवाज़

आ रही थी, उसी ओर से एक लड़की चली आ रही है। बेगाना है, बेखबर है। मानो जैसे उसे खबर है तो यही कि यहाँ कोई नहीं है और इस सन्नाटे की वही मलिका है। लम्बे बेपरवाह डगों से वह बढ़ी चली आ रही है। वह...

तभी मैं हैरत में रह गया। वह बढ़ी ही चली आ रही है और गाती आ रही है। गाती चली आ रही है—

मोरे बंसुरी-वाले आजा-आ-आ
ओरे बंसुरी-वाले आ-आ-आजा

उसको मैंने देखा। देखा कि लड़की ही है। उसके कण्ठ में वह घन-घोर रव कहाँ से आया है? सलवार पहने है जो पिंडलियों तक आ गई है, घुटनों पर से फटी हैं। ऊपर कमीज लटकी है जिसकी एक बाँह आधी होने के निकट है, दूसरी बाँह भी पूरी साबित नहीं है। सिर को जरा छूती और कन्धों पर पड़ी ओढ़नी नाम की एक चीज़ है। मालूम होता है कि गाने में उसे विशेष आयास की आवश्यकता नहीं होती है। सहज-भाव से ही मानो कदमों का साथ देने भर के लिए वह गाती चली आती है। सत्रह-अठारह वर्ष की होगी। उठान उसका औसत से विशिष्ट ही है। पीन वक्ष, पुष्ट देह, वह पूर्ण युवती है, पर वह पूरी बेगाना भी है। कमीज़ का काम लटकना ही नहीं है, अंग ढकना भी है, जैसे यह भी हर समय उसे याद नहीं रहता, सिखाई सीख की तरह उतर-उतर जाता है। तब, तब अगर आदमी की निगाह पर उसकी निगाह पड़ जाय, तो वह झटपट अपनी कमीज़-ओढ़नी को ठीक-सा भी करती है, लेकिन फिर भूल जाती है। वह युवती है, और मैं नहीं कह सकूँगा, सुन्दरी नहीं है। वह धमक के साथ डग बढ़ाती हुई चली आ रही है, गाती आ रही है—

मोरे प्रीतम प्यारे राजा-आ
मोरे मोहन प्यारे आ-आ-आजा !
ओ आजा-आ-आ ! ओ आजा-आ-आ !!

वह मुझ से दस क़दम के फ़ासले पर सहसा रुक गई। गाना भी रुक गया। फिर एकाएक बढ़ी और बढ़ती ही आई और मेरे पास आकर खड़ी हो गई, मानो पूछना चाहती है, "तुम कौन ? मेरे राज में तुम कौन ?"

मैंने पूछा, "बाले, तुम कौन हो ? इस वक्त यहाँ क्या करती हो ?"

उसने दोनों हाथों को मेरी आँखों के सामने नचा दिया, "नेई शमुजता" और इसके आगे शायद पश्तों में कुछ कहा, जिसमें मैं 'मी नादिरा' इतने वाक्यांश का यह आशय बना सका कि नाम नादिरा है।

मैंने उससे बात करना चाहा और जानना चाहा कि किस प्रकार वह ठेठ हिन्दी का गाना इतना शुद्ध गा लेती है। पर वह उत्तर में हँसती, हाथ हिलाती और पश्तों में कुछ बोल देती और मुझे कुछ विशेष सूचना न प्राप्त होती।

मैंने देखा वह बीच-बीच में इधर-उधर भी देख लेती है। एक बार इस तरह देखने में उसकी निगाह एक तरफ जमी रह गई। मैंने उसी ओर दृष्टि करके देखा कि पहाड़ के बहुत ऊँचे कँगूरे पर, एक अकेली बकरी घास चुग रही है। जरा इधर, और सैंकड़ों फ़ीट नीचे वह आ पड़ेगी। क्षणभर रुककर दो अँगुली मुँह में डालकर नादिरा ने जोर से सीटी बजाई। एक सीटी, दो सीटी और तब बकरी ने मुँह उठाकर शान्ति के साथ चारों ओर देखा। उसी समय नादिरा ने मुँह गोल बनाकर एक जोर की आवाज़ की। मेरे कान

बहिरे होने लगे। बकरी, जो फिर घास को मुँह लगाने को उद्यत थी; एकाएक चिन्तापूर्वक फिर चारों ओर देख उठी। 'पुई' 'पुई' यह आवाज़ नादिरा ने कई बार की; पर बकरी सुनकर भी मानो कोई कर्त्तव्य स्थिर नहीं कर सकी, खोई-सी ही रही।

इस समय नादिरा के निकट में जैसा था, वैसा न था। उसके निकट जैसे इस समूची दुनिया का ही होना-न-होना एक-सा था। बस दूर, वह सामने बकरी उसके लिए थी और उसके निज के पास अपने मुँह की तरह-तरह की आवाज़ें थीं, जिनको वह बकरी तक भेज सकती थी। इस बार उसने आवाज़ बदलकर तीखे वेदना के शब्दों में चीखा; 'पुआँ-पुआँ'। मुझे लगा जैसे कुएँ के तट से नीचे गिरते-गिरते बालक को दूर से देखकर असहाया माँ पुकार रही हो, 'कुआँ-कुआँ!'

बकरी शायद इस पर चौकड़ी भूल गई। या कहो, होनहार ही आ मन्डलाई। मेरे देखते-देखते उसके पैर खिसके, वह सम्भली, लड़खड़ाई और नीचे आ गिरी। नीचे, यानी अतल में!

नादिरा इस पर हिरन की चाल से एक-साथ भाग छूटी। मैं चिल्लाया, "नादिरा! नादिरा!!" और वह पत्थरों को फलाँगती भागी जा रही थी, भागी जा रही थी। क्या उसे नहीं मालूम कि शाम के बाद रात होती है और कि रात अँधेरी भयावनी होती है? वह और ऊपर की तरफ जा रही थी, और ऊपर की तरफ। ऊपर जहाँ आसमान है, निर्जनता है, खतरा है और स्वच्छता है। नीचे जहाँ गाँव हैं, आदमी हैं और आसरा है। ऊपर; जहाँ पहाड़ उठते उठते रुक गया है, और जहाँ से बकरी ने गिरकर मौत पाई है।

उस लड़की के माँ है? बाप है? बहन है? भाई है? उसके कोई शादी करने-वाला है? क्या वह आदमी को समझती है और

क्या आदमी उसे समझता है ? या उसके दिल के दूध को बकरियाँ ही पीएँगी, वे ही समझेंगीं ? क्या किसी घर की वह सदस्या है ? किसी माँ की वह बेटी है ? क्या वे लोग अठारह वर्ष की उम्र तक इसकी यही उपयोगिता पाते हैं कि ऊँचे-नीचे पहाड़ों में यह बकरी चराती फिरे ?

* * *

मैंने कहा, "हृदयनाथ, मालूम करना चाहिए, जो बकरी के साथ इतना निजीय है, वह इस आदमी की दुनिया में किस जगह है ? आदमी की दुनिया ने अपने साथ उसका क्या सम्बन्ध बनने दिया है ?"

हृदयनाथ ने कहा, "छोड़ो-छोड़ो। क्या वह ऐसी खूबसूरत थी ?"

मैंने माना, "हाँ, एक तरह से खूबसूरत भी थी ?"

हृदयनाथ बोला, "तुम पाओ, तो उसे ले लो ?"

मैंने कहा, "मैं ले लूँ ? क्यों, इसमें लेने की क्या बात है ?"

"लेने की कुछ भी बात नहीं है, तो परेशानी का सबब ?"

छिः छिः, आदमी में कैसी तुच्छता भरी है। मैंने कहा—

"सबब होगा जो होगा। तुम उठो, आओ चलें। देखें, उसका कुछ पता चलता है, या नहीं।"

मेरी तबीयत थी कि मैं जाऊँ, देखूँ पहाड़ पर से बकरी का क्या बना है और नादिरा क्या करती है ? लेकिन पहाड़ से मेरी घनिष्ठ आत्मीयता कब हो सकी है ? अपनी मर्म-कथा वह आत्मीय पहाड़ मेरे हाथों में कैसे पकड़ा देगा ? उसके राह-रास्तों का मुझे बिलकुल ही पता नहीं है। तब मैंने इसी पर सन्तोष माना कि हृदयनाथ को साथ लेकर गाँव में उसकी कुछ खोज-खबर लूँ।

पता लगाते-लगाते यह लगा कि वह अपने एक दूर के चाचा

के यहाँ रहती है। बाप उसका मर गया है और माँ ने कोई दूसरा घर बसाया है। माँ अपनी जाति में बहुत सुन्दरी गिनी जाती थी। उसकी तबीयत निराली थी। प्रेम में स्वच्छन्द, कर्त्तव्य में तत्पर, संकट में निर्भय और तकरार में तेज थी। यह लड़की नादिरा, अविवाहित-प्रेम का फल थी। पर वह उसे बहुत प्यारी थी। उसकी माँ ने उसे अपने पास तब तक रखा, जब तक पति पर उसका पूरा काबू चला। उसने लड़की को शिक्षा दी कि वह स्वच्छन्द रहे। विपद् सह ले; पर स्वछन्दता न खोये। दिन आया कि यह लड़की नादिरा उसके हाथों से छूटी और इस गाँव में अपने चाचा की शरण में आ पड़ी। तब से वह बढ़ रही है और बकरी चरा रही है। आदमियों की दुर्दुराहट उसे मिली है। एक ओर माँ का प्रेम और दूसरी ओर सबकी दुत्कार, इतने ही के द्वारा मनुज प्राणी को वह जितना समझती है, समझती है। और अधिक आदमी को वह नहीं समझती। घर में टहल का धन्धा करना पड़ता है। इतने पर भी आदमी के सम्पर्क में आने के कारण उसकी भाषा वह समझ लेती है। नहीं तो आदमी उसके लिए जन्तु है, बकरी आदमी है।

मैं उसके चाचा के घर पहुँचा। सिर पर सोला हैट था। बिरजिस थी, जिसपर फुल-बूट कसा था, पीछे राइफल लिए आदमी आता था और मेरे एक तरफ़ बाइनोकुलर लटका था, दूसरी तरफ़ कैमरा था। मैंने पहुँचकर उसके चाचा को बिलकुल डरा दिया। छोटा कच्चा-सा घर था, जो आदमियों से ज्यादा मुर्गियों का था। वे ही इधर-उधर चारों ओर बिखरी फिर रही थीं। मैंने उससे अंडों के मोल-तोल से बात शुरू की। कहा, "बकरियाँ नहीं हैं ?"

मालूम हुआ, "हैं।"

"तो यहाँ हैं ? चरने गई हैं ? कौन ले गया ?"

"पड़ौस का एक लड़का ले गया है।"

"वही ले जाता है ?"

"नहीं, एक लड़की है। नौकर ही समझिए—वह भी ले जाती है।"

"अब वह नहीं है, कहीं गई है ?"

"मालूम नहीं, दो रोज़ से नहीं लौटी, एक बकरी भी कम है। लड़की बड़ी बदमाश है साऽब। (गाली के साथ) कहीं चली गई होगी। साऽब, उसे जवानी का जोम है। रोज मार-पीट लेते हैं। उसे अकल नहीं आती।"

मैंने जोर से कहा, "लड़की तुम्हारी रिश्ते में कुछ होती है ?"

"रिश्ता ! हमारा उससे रिश्ता होगा ! वह हरामजादी है।"

मैंने कहा, "दो रोज़ से वह तुम्हारे घर नहीं आई। तुमने उसे तलाश करने के लिए क्या किया ?"

(गाली के साथ)—"आना होगा, आप आकर मरेगी।"

मैंने कहा, "तुमको यह नहीं सूझता कि सर्दी-पाले में वह पड़ी हो सकती है। और क्या हालत हो ? तुम क्या जानते हो कि वह मरी नहीं है ?"

उसी समय उस आदमी की बीबी प्रशस्त धड़ लिए सहन में आई और दो-एक मुर्गी के बच्चों को गर्दन से दबोचकर अन्दर ले गई। वे बच्चे कीं-कीं-कीं प्रोटेस्ट करते हुए उन चौड़े हाथों की मुट्ठियों में दबुचकर रह गए।

नादिरा के चाचा ने जो कहा, उसका आशय यह बनता था कि वह लड़की मरे, तो जहमत दूर हो। पर वह मरने वाली है ? किसी यार के घर होगी।

मैं सोचता रह गया। नादिरा में मेरी क्या दिलचस्पगी थी, मुझे समझ न आता था। पर मैं यह जानता था कि नादिरा वैसी निर्दोष है, जैसे कोई शिशु या पशु ही हो सकता है। उसकी निर्दोषता, किन्तु, मनुष्य के निकट कभी प्रमाणित और प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगी। तब मैं उसके हित में क्या कर सकता था?... क्या कर सकता था? मेरे मन में एक बार उठा कि क्या मैंने विवाह न करने की कसम खाई है? लेकिन यह विचार मैंने धकेलकर अपने से परे हटा दिया। मैं सोचता रहा और अन्त में मैंने पाया, बिना सोचे-समझे मैं उस आदमी से पूछ रहा हूँ—"उसकी उम्र कितनी है?"

करीब सत्रह वर्ष उसने उम्र बताई।

मैंने दस रुपए का नोट निकालकर उसकी तरफ़ बढ़ाया, कहा—"ढूँढ़कर ला सकते हो, तो और भी इनाम मिलेगा!"

मैंने देखा, इस पर वह गर्म होना चाहता है। वह मेरी तरफ़ निगाह बाँधकर देख रहा है। मैंने मुस्कराकर एक नोट और निकाल दिया। वह शायद तौल रहा था कि इन्हें फेंकना ठीक है या जेब में रखना ठीक है! मैंने एक और भी नोट उसे दे दिया। वह मेरी तरफ़ देखता ही रहा। मैं बिलकुल नहीं जानता था कि मैं क्या कर रहा हूँ। लेकिन उस आदमी को क्रम-क्रम से रुपए के महत्त्व की पहिचान की ओर बढ़ते देखने में मुझे स्वाद आ रहा था। मामूली हालतों में ठीक ही बात उसके लिए ठीक बात है, उचित ही उचित है। रुपए का बोझ, हाँ, किसी खास तरफ़ हो जाय, तब बेशक उचित-अनुचित के माप में फेर-फार हो जाता है।

मेरे दिये तीस रुपए के नोट हाथ में थाम कर उसने कहा,—"बहुत अच्छा हुजूर!"

मैंने कहा, "और भी इनाम मिलेगा।"

* * *

नादिरा मिल गई। वह पहाड़ी जड़ी-बूटी की मदद से मरती-मरती बकरी को मौत के मुंह से खींच लाने के यत्न में संलग्न थी। मैं नहीं जानता कि उसे पता होगा कि दिन-का-दिन निकल गया है, रात-की-रात निकल गई है; कि उसने खाया नहीं है और यह कि जहाँ है वह घोर जंगल है। हो भी सकता है कि उस बेवकूफ़ को यह पता न हो!

बकरी मरी नहीं, पर जिई भी नहीं। जब खोज लगा कर उसका चाचा जैसे-तैसे वहाँ पहुँच सका और बहुत से प्रेम के सम्बोधन खर्च करके उसे घर ले चलने का आग्रही हो गया, तब बकरी को साथ लेकर नादिरा साथ-साथ चल दी। दूसरे रोज़ बकरी मर गई और नादिरा जैसे मतिशून्य हो गई।

एक दिन साढ़े आठ-नौ का रात का वक्त होगा कि देखता हूँ—झूठे गोटे से टँका नीले रंग का सलवार और रंगीन-सी ओढ़नी ओढ़े नादिरा मेरे डेरे में आकर खड़ी हो गई है। जैसे इसी तरह वह ऊपर से लटकाकर यहाँ छोड़ दी गई है। नहीं जानती, क्या उससे चाहा जा रहा है और क्या उसे करना है। चंचलता और स्वच्छन्दता उसे एकदम छोड़ गई है और वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ है।

मैंने कहा "नादिरा!"

उसने न मेरी आँखों के सामने हाथ हिलाये, न पश्तो बोली, न हँसी। उसके गोटे के कपड़े देख कर मेरे मन में करुणा उठी। यह कपड़े, जो शायद मँगेनू हों, शायद घराऊ हों, उस पर ऐसे धरे हैं जैसे मूरत पर उढ़ा रक्खे हों और उनके नीचे वह भी अडिग, अचल, बनी मरत-सी खड़ी है!

मैंने कहा, "नादिरा !"

वह चुप।

मेरे मनमें करुणा ही करुणा भर गई। इस वन-कन्या पर यह झूठा बाना कैसा ? इसके नीचे एक क्षण भी क्या वह वैसी हरियाली, प्रफुल्ल रह सकेगी ?

मैंने कहा, "नादिरा, क्या है ?"

चुप।

मैंने कहा, "जाओ, घर पर कुछ काम करना। हम लोग दो-एक रोज में चले जाएँगे।" कहने के साथ मैंने हँस कर अँगुली अपने सीने पर रखी, एक से दूरी की तरफ़ इशारा किया और फिर अँगुली को नादिरा के सीने की ओर उठाया, साथ कहा, "हम जा रहे हैं दूर। दिलमें हमें रखोगी न ?" और मैं हँसा।

वह चुप।

उस मूक प्राणी की उस आबद्ध, अलंकृत और सधाई हुई निष्प्राण हालत को देखकर मेरा मन आप-ही-आप अतिशय कातर, भीना हो आया।

मैंने अपने एक विश्वस्त नौकर के साथ उसे घर भिजवा दिया।

अगले रोज़ दिन में जब मैं उससे अन्तिम विदा लेने गया, तो मुझे मालूम हुआ वह खाट में पड़ी है। उसके सख्त चोट आई है। बात यह थी कि कल उसके चाचा ने बेहद उसे पीटा था। उसके वापिस घर पहुँचते ही चाचा ने माँगा था—"ला, क्या लाई ?"

वह तअज्जुब में पड़कर चुप रह गई थी।

चाचा ऐसा आदमी न था कि उसकी भतीजी नोट-के-नोट लाए और चाचा बहकाए में आ जाए, रुपए वसूल न कर ले। भतीजी की कमाई के रुपए पाने के लिए उसने भतीजी को मारते-

मारते बेदम कर दिया। शायद मौत के आजाने से रुपए मिलने की सम्भावना ही एकदम समाप्त हो जाती थी, इस कारण मारना अगले दिन पर स्थगित कर दिया गया हो।

उस समय मुझे कुछ नहीं सूझा। मैं भीतर घुस गया। भकोली चारपाई पर ढेर वह नादिरा पड़ी थी। कई जगह सूजन थी, कई जगह घाव थे। उसने मेरी ओर आँखें करके देखा। वे आँखें हिरन की आँखें थीं। उनमें न अभियोग था, न दर्द। जैसे उसे न अपेक्षा है, न उसके लिए कुछ अनपेक्षित है।

मैंने कहा, "नादिरा!"

शायद मेरे सम्बोधन के स्वर ने उसे छुआ।

मैंने और उसके समीप झुककर कहा, "नादिरा!"

उस ने दोनों हाथों में मेरा हाथ ले लिया। उसकी आँखें डब-डबा आई। उसकी देह भी उस समय जैसे एक साथ कंटकित हो आई थी। भरे कटोरे-सी अपनी हिरनी की आँखें मुझ पर लगा कर वह जाने किस भाव से मुझे देख उठी। उस समय मेरे शरीर की शिरा-शिरा ने जैसे साक्ष्य दी, "अरे, यह तो स्त्री है! अरे, यह प्रणयिनी कब नहीं है?"

मैं...

तभी मैंने लौटकर देखा, उस चाचा के चेहरे पर दुर्लक्ष्य, दुर्निवार कोई उद्धत विचार फैलता जा रहा है और वह धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

मैं अपना हाथ छुड़ाऊँ कि दोनों हाथों से उसे दाब कर नादिरा ने कपोती की कूजन-सी करके कहा, "बाबू! बाबू!"

मैं देख सका, उस बढ़ते आते हुए चाचा के हाथ में पीछे छुरा है।

मैंने एक साथ बढ़कर बूट की एक ठोकर उसे दी। वह लड़-खड़ा आया। जेब से सौ रुपए का एक नोट निकाल कर उसकी तरफ फेंकते हुए कहा, "ले! ले!" और मैं चला आया।

मैं चला आया और अब तक भी मैं नहीं जानता हूँ कि नादिरा को कभी किसी ने स्त्री बनने का अवसर दिया कि नहीं। सोचता हूँ कि क्या उसका मातृत्व अपनी सार्थकता के लिए गोद में मनुज-शिशु भी कभी पाएगा, या वह सम्पूर्ण भाव से बकरी जैसे प्राणियों के प्रति ही विसर्जित होता रहेगा ?

रत्नप्रभा

प्रातः ब्राह्मवेला से इस नगरी में यमुना-स्नानार्थियों का ताँता लग जाता है। उनमें स्त्रियों की संख्या ज्यादा होती है। पैदल, इकली, यूथों में, सब प्रकार के वाहनों में, हर पद्धति-प्रकार और वय की स्त्रियाँ तड़के अँधेरे से सूरज चढ़ते तक चाँदनी-चौक से यमुना-घाट तक रास्ता चलती हुई देखी जा सकती हैं। यह दृश्य अति भव्य मालूम होता है।

इधर कोई एक महीने से एक बड़ी नई मोटर-गाड़ी नियत समय पर यमुना आती है। सब पहचानते हैं कि गाड़ी सेठानीजी की है। प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीनिवासजी का हाल में तीसरा विवाह हुआ है। विवाह में परम योग्य, विदुषी, सुन्दरी पत्नी उन्हें प्राप्त हुई है। उनका नाम रत्नप्रभा है, वही नित्य-नियमित गाड़ी में आती हैं। आस-पास सड़क से जाते हुए या घाट पर के लोग गाड़ी और सेठानी को देखते रह जाते हैं। उनके गौरव के प्रति सबको सम्भ्रम है। वह परदा नहीं करतीं। रूप अनिन्द्य सुन्दर है। मर्यादा की शुचिता व्यवहार में परिलक्षित होती है, देह पर आभूषण नहीं देखने में आते। लकीर-सी बारीक चूड़ियाँ ही कलाई में देखी जा सकती हैं। सदा कच्चे दूध की नाईं सफेद और स्वच्छ

वस्त्र पहने रहती हैं। नियम से कुन्द-पुष्पों के दो दोने साथ लाती हैं। एक यमुना को भेंट करतीं दूसरा भगवान को चढ़ाती हैं। यमुना में वह स्नान नहीं करतीं; जल लेकर नेत्रों से और मस्तक से लगातीं, फिर आचमन करतीं अनन्तर यमुना माता को प्रणाम करके एक अलग निश्चित स्थान में जप करती हैं। पश्चात् भगवान् के दर्शन कर वापस आ जाती हैं। उनके व्यक्तित्व की शालीनता और आभिजात्य से आस-पास का वातावरण भरकर उन्नत होता हुआ मालूम होता है।

एक रोज़ उन्होंने देखा कि एक लड़का रामनामी दुपट्टा कमर से बाँधे गीत गा-गाकर किताबें बेच रहा है। रोज़ लगभग एक ही स्थान पर इसी समय यही करता हुआ वह मिलता है। देह का ऊपर का हिस्सा उसका खुला है। बीस-बाईस वर्ष का होगा। रङ्ग श्याम है, बनावट सुन्दर। बाल बड़े और घुँघराले हैं। श्मश्रु चेहरे पर फूट ही रहे हैं।

धीरे-धीरे करके मोटर से जाते हुए सेठानी ने यह सब देखा। यह भी देखा कि मोटर पास से निकलती तो ऊपर को मुँह उठाकर वह इसी तरफ़ देखने लगता है।

रत्नप्रभा अपनी ओर लोगों को देखते हुए पाने की आदी हैं। फिर भी बिना देखे वह देखने लगीं कि इस लड़के की निगाह मोटर की तरफ़ और स्वयं उसकी तरफ़ जैसे एक ही से भाव से उठती है, मानो मोटर की भाँति वह भी पदार्थ हो।

रत्नप्रभा ने एक-दो बार उसकी ओर देखा भी। औरों की तरह इस पर उसकी निगाह नीचे नहीं आई। वह किशोर उसी भाँति टकटकी लगाकर देखता रहा।

वह घाट के पास की ही बात है। मोटर वहाँ धीमी चलती

है। भीड़ रहती है और रास्ता तङ्ग है। मोटर अनायास रुकी तो उसने शोफ़र से कहा, "वह किताब बेचता है न लड़का, उसे बुलाना।" बुलाने पर लड़का आकर खड़ा हो गया। उसके हाथ में किताबें थीं। मोटर में ही से रत्नप्रभा ने पूछा, "क्या है?"

"किताबें हैं। लीजिएगा?"

रत्नप्रभा ने कहा, "किताबों की बात नहीं, ठीक तरह तुम अपना काम क्यों नहीं करते हो?"

लड़का इस बात को बिना कुछ समझे निरुत्तर खड़ा रह गया।

"निगाह नीची रखा करो। सुनो! जाओ।...चलाओ जी।"

मोटर चली गई और लड़का खड़ा रह गया। फिर वह भी अपनी जगह लौट आया।

लेकिन देखा गया कि मोटर निकलती है तो उसकी आँखें उसी तरफ उठ जाती हैं। वह निगाह बाँधकर देखता रहता है। उस दृष्टि में आश्चर्य बहुत होता है।

दो-तीन रोज़ बाद मोटर रोककर रत्नप्रभा ने फिर उसे बुलाया। कहा, "क्या बेचते हो?"

"किताबें हैं। हनुमानचालीसा, स्त्री-सुबोधिनी, तोता-मैना, छबीली भटियारी—चाहिए?"

रत्नप्रभा को बहुत बुरा मालूम हुआ। कहा, "ये गन्दी किताबें क्यों बेचते हो?"

"बिकती हैं, सो बेचता हूँ। मेरे पास वह भी है...चाहिए?"

"क्या है?"

धीमे से लड़के ने कहा, "कोक-शास्त्र दूँ?"

रत्नप्रभा के कर्णमूल लाल हो गए। शोफ़र से बोली, "चलाओ।"

गाड़ी लड़के को वहीं छोड़कर चल दी।

किन्तु फिर देखा कि लड़का उसको और उसकी गाड़ी को उसी तरह निर्भीक, निर्लज्ज, उत्सुक और चकित दृष्टि से देखता हुआ खड़ा रह जाता है। उस ओर देखती है तो भी वह देखता रहता है। दृष्टि में अपेक्षा नहीं है, विस्मय है—केवल विस्मय, अपार विस्मय।

उस निरपेक्षता से लाचार होकर फिर रत्नप्रभा ने मोटर रुकाई। बुलाया और पूछा, "तुम इसमें क्या पैदा कर लेते हो?"

उसने उत्तर दिया, "धेली-बारह आना—"

रत्नप्रभा ने कहा, "गन्दी किताबें न बेचो तो न चले?"

लड़के ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

रत्नप्रभा गुस्से में भर आई। बोली, "वह किताब कितनी हैं?"

"कोकशास्त्र?—पाँच।"

"कितने में देते हो?"

"दो-दो में।"

"जाओ तो, पाँचों ले आओ, बदमाश!"

लड़का पाँचों पुस्तकें ले आया। शोफर ने उन्हें ले लिया। रत्नप्रभा ने दस रुपये का नोट उसकी तरफ फेंक दिया। कहा, "खबरदार, अब आइन्दा मत बेचना।"

यह कहकर एक दूसरा दस रुपये का नोट भी उस पर फेंक दिया।

उससे पहले ही हुक्म पाकर मोटर चल दी और हवा में उड़ता हुआ वह दूसरा नोट लड़के ने पकड़ा।

किन्तु उसमें अन्तर नहीं आया। उसकी निगाह वही थी और

जगह भी वही। वह निगाह झुकने को तैयार न थी। उसमें न कृतज्ञता थी, न आतंक। उसमें शिष्टता तक न थी।

गाड़ी को रोककर इस बार फिर बुलाया। कहा, "अब क्या बेचते हो ?"

बोला, "जो कहिए। हनुमान-चालीसा, तोता-मैना, एक रात में..."

"वह वाली किताब है ?"

"...है, लाऊँ !"

रत्नप्रभा ने गुस्से में आकर कहा,"ऐसे तुम बाज नहीं आओगे। पुलिस की मार से तुम ठीक होगे।"

वह सुनता हुआ चुप खड़ा रहा, कुछ भी नहीं बोला। उसकी निगाह ठीक वही थी। रत्नप्रभा ने कहा, "कुल कितने की किताबें तुम्हारे पास हैं ?"

"बीस रुपये की।"

रत्नप्रभा ने कहा, "यह लो पच्चीस और सब यहाँ पटक जाओ। फिर खबरदार जो तुमने यह काम किया !"

लड़का गया, किताबें ले आया, मोटर में उँडेल दीं और पच्चीस ले लिये।

रत्नप्रभा ने कहा, "समझे ? अब यह काम न करना। खोमचा लगाओ, कुछ और करो। इसमें अब तुम्हें देखा तो, चलाओ जी !"

पर दो-एक रोज के अन्तर से वह लड़का उसी तरह किताबें फैलाए, वहीं खड़ा रत्नप्रभा की जाती हुई मोटर की ओर देखता हुआ दिखाई दिया। उस दिन तो खैर वह निकल गई। पर अगले दिन उसको बुलाकर उसने डाँटा और पूछा कि यह स्टाक कितने का है। पन्द्रह कहने पर उसे पन्द्रह निकाल कर दे दिये, फिर पास

रखा बेंत शोफर की तरफ फेंक कर कहा, "इसकी जरा मरम्मत तो कर देना।"

शोफर ने बेंत लेकर पाँच-सात जोर से उस लड़के के जड़ दिये। लड़का उसी निगाह से रत्नप्रभा को देखता हुआ बिना कुछ कहे चुपचाप पिटता रहा। आस-पास लोग घिर आये। वे तो सदा ही घिर आते थे। पर उनकी तरफ न रत्नप्रभा का ध्यान था, न लड़के का। रत्नप्रभा ने कहा, "क्यों, अब तो न करोगे?"

लड़का चुपचाप उसी निगाह से देखता हुआ खड़ा रहा। रत्न-प्रभा ने कहा, "दो-चार और तो जमाना। अभी इसे अकल नहीं आई!"

शोफर ने आज्ञा का पालन किया। और वह लड़के की धृष्ट निगाह की तरफ देखती रही। उसमें कोई दया की अपेक्षा न थी।

देखते-देखते बेसब्री से बीच में रोककर रत्नप्रभा ने कहा, "बस रहने दो, अब इसे अकल आ गई होगी।"

लड़का उसी तरह खड़ा रहा। आँखें उसकी बड़ी-बड़ी थीं और उसमें डोरे थे। उसमें मानो समझ न हो, जाने क्या हो। पर न वे आँखें भीगीं, न गुस्से में तेज हुईं। वे उसी भाँति स्थिर, विस्मय और अनपेक्षा से देखती रहीं।

रत्नप्रभा ने झटक कर शोफर से कहा, "गठरी में से किताबें अपने पास डाल लो और चलो।" और मोटर चल दी।

उसके बाद दो-तीन चार-सात रोज तक वह लड़का फिर दिखाई नहीं दिया। एक तरह इन दिनों में रत्नप्रभा निश्चिन्त थी। सात रोज के बाद क्या देखती है कि वह लड़का खड़ा नहीं है, न कुछ बेच रहा है; बल्कि बैठा हुआ है और डफली बजाकर भजन गा रहा है।

उसे और उसकी मोटर को देखकर वह चुप हो गया। मोटर निकल गई, तो वह फिर गाने लगा। आवाज उसकी अच्छी है, लोचदार। कण्ठ सुरीला है। गाता है तो ध्वनि काँपती-सी निकलती है, जैसे मन को पकड़ती हो। वह गाता अच्छा है, यह उसके मुँह से भक्ति के पद सुनकर ही रत्नप्रभा को मालूम हुआ। मानो बिना सुने वह सुनती थी। आज यमुना पहुँची तो उस भिखारी का वह पद, उसका स्वर, उसके मन में चक्कर काट रहा था। भगवद्-दर्शन के समय वही पद उसमें घूम रहा था, 'प्रभु जी मोरे अवगुन चित न धरो।'

लौट कर उधर से निकली तो गाना फिर रुक गया। रत्नप्रभा ने मोटर रुका ली। शोफर से कहा, "जाकर कहो कि गाना रोके नहीं।"

शौफर कहकर आ गया। पर गाना आरम्भ नहीं हुआ।

रत्नप्रभा ने कहा, "जाकर कहो कि फिर पिटना चाहता है क्या? गाना जारी रखे।"

शोफर फिर कहकर लौट आया, पर गाना शुरू नहीं हुआ। इस पर तैश में आकर रत्नप्रभा ने कहा, "चलाओ जी गाड़ी।"

गाड़ी का सरकना था कि उसे गीत का स्वर सुनाई दिया। 'समदरसी है...'

रत्नप्रभा ने कहा, "धीमे चलाओ, देखते नहीं रास्ता खराब है?

'समदरसी है...समदरसी है नाम तिहारो...

मोटर में से वह यह सुनती गई और पद के इतने अंश को अपने साथ-साथ लिये घर पहुँची। सोचती जाती थी कि उसका नाम समदर्शी है। वह सब को प्यार कर सकता है। उसमें सब एक हैं। एक ऊँचा है, एक नीचा है। एक सुन्दर है, एक कुरूप है। एक मोटर में है, दूसरा धरती पर है। पर उसमें सब बराबर हैं। 'ऊँच-

नीच सब एक बरन भये', वह सोचती थी, और उस लड़के का काँपता हुआ स्वर उसके भीतर घूमता हुआ लगता था, 'समदरसी है नाम तिहारो...प्रभु जी मोरे अवगुन चित न धरो।'

अगले रोज वह वहीं था और गा रहा था। मोटर के रुकने पर वह रुक गया। आज्ञा पाकर शोफर उसे पास बुला लाया। रत्नप्रभा ने कहा, "क्यों जी, तुम अब क्या करते हो ?"

उसने उत्तर दिया, "गाता हूँ !"

"अरे, खाने के लिये क्या करते हो ?"

"भीख माँगता हूँ।"

"भीख क्यों माँगते हो ?"

लड़का इसका बिना कुछ जवाब दिये खड़ा रहा।

"भीख मिल जाती है ?"

लड़के ने इसका भी कोई उत्तर नहीं दिया।

"रोटी माँगते हो, या पैसों से लेकर खाते हो ?"

लड़का उसी तरह रत्नप्रभा को देखता हुआ खड़ा रहा। कुछ नहीं बोला।

"मुझ से भीख लोगे ?"

इसका भी उसने कुछ उत्तर नहीं दिया।

आप ही रत्नप्रभा बोली, "नहीं, भीख नहीं, मैं नौकरी दे सकती हूँ। नौकरी करोगे ?"

लड़के ने कहा, "करूँगा।"

"तो गाना गाओ।"

चारों ओर फिर तमाशा आ जुटा था। पर लड़का खड़ा रह गया। उसने गाना नहीं गाया।

रत्नप्रभा ने कहा, "नौकरी करोगे तो गाते क्यों नहीं ?"

वह बात उसने फिर नहीं सुनी। उसी तरह रत्नप्रभा की ओर सीधा देखता हुआ वह खड़ा रहा।

रत्नप्रभा बोली, "तो जाओ, भीख ही माँगो। तुम और किसी लायक नहीं हो।"

शायद रत्नप्रभा को अपेक्षा थी कि लड़का चला जायगा। पर ठूँठ की नाईं, उसे वहीं खड़ा देख रत्नप्रभा ने शोफर को डाँटकर कहा, "तुमने यहाँ क्यों गाड़ी खड़ी कर रखी है जी ? रास्ते में गाड़ी इस तरह न रोका करो !"

गाड़ी चली गई, तो लड़का भी चला गया। जाकर अपनी जगह पर पालथी मारकर बैठा हुआ गाने लगा, "म्हाने चाकर राखो जी, प्रभु जी म्हाने..."

वह स्वर वायु पर बहता हुआ रत्नप्रभा के कानों में पड़ा। वहाँ से थोड़ी ही दूर पर मन्दिर है। यमुना से लौटकर मन्दिर में दर्शनार्थ आई, तभी उसे यह पद सुन पड़ा। मानों अनुकृति में भगवान् के समक्ष नमन करते हुए वह यही कहने लगी कि—हे प्रभु जी, मुझे तो तुम्हीं रख लो सेवा करूँगी, चाकरी करूँगी, मुझे और कहीं न जाने दो, अपनी शरण में ले लो !

लौटती बार मोटर सीधी चली गई, रुकी नहीं। दो-तीन दिन यही क्रम रहा। लड़का वहीं बैठा हुआ गाता मिलता। पहले रोज़ गाने में विघ्न पड़ा, दूसरे रोज़ भी—पर फिर देखने में आया कि मोटर निकल जाती है और गाना भी जारी रहता है। रत्नप्रभा ने सोचा कि क्या वह अब भी मेरी तरफ आँख उठाकर देखता है ? शायद अब उसे इसका ध्यान नहीं है; या है ?

इस तरह चार-पाँच रोज खींचकर शोफ़र के ज़रिये फिर उसे बुलाया। पूछा, "नौकरी में क्या लोगे ?"

लड़के ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह अपनी उन्हीं आँखों की उसी दृष्टि से देखता रहा।

रत्नप्रभा ने जल्दी मचाकर पूछा, "क्यों जी, सोते कहाँ हो? कुछ और कपड़ा है कि यही है? तन रखने को भीख मिल जाती है?"

उसने सब सवालों के उत्तर में उसी तरह देखते हुए संक्षेप में उत्तर दिया, "यहीं कहीं सो रहता हूँ।"

रत्नप्रभा ने हँसकर कहा, "कोई झाड़ू मार के निकाल तो नहीं देता?"

लड़के ने कहा, "निकाल भी देता है।" कहकर वह उसी तरह उसे देखता रहा।

रत्नप्रभा घबराई, बोली, "तो बताया नहीं, नौकरी में क्या लोगे?"

इसका कुछ उत्तर लड़के ने नहीं दिया।

रत्नप्रभा झल्लाई हुई बोली, "ठीक बोलो, नौकरी करोगे या नहीं करोगे? पूछते हैं तो मिज़ाज ही आसमान पर चढ़ता जाता है।"

उस बात को लड़के ने नहीं छुआ, कहा, "करूँगा।"

और भी झल्लाकर बोली, "तो बतलाते क्यों नहीं, क्या लोगे?"

लड़के ने उत्तर नहीं दिया। अन्त में हारकर आप ही गुस्से में भरी हुई बोली, "कपड़ा खुराक के अलावा पन्द्रह से में एक ज्यादा नहीं दूँगी। करेगा?"

"करूँगा।"

"मेरा सब काम करना होगा और बिना पूछे कहीं नहीं जाना होगा। मन्जूर है?"

लड़का चुप खड़ा रहा।

रत्नप्रभा आप ही कहती गई, "मेरा सब काम, चाहे मैं कुछ कहूँ। कपड़ा धोना, सफ़ाई करना, जूते साफ़ करना, सब काम। तेरे कोई है तो नहीं ?"

"कोई नहीं।"

"माँ-बाप, सगे-सम्बन्धी ?"

"कोई नहीं।"

"कोई कैसे नहीं है ? कहाँ का रहने वाला है ?"

लड़का चुप रह गया।

"चुप क्यों रह जाते हो जी ! तुम बोलते क्यों नहीं ?"

लड़का उसी दृष्टि से रत्नप्रभा को देखता रहा। उसमें न आदर था, न तिरस्कार। क्रोध से भय न था, न सहानुभूति की अपेक्षा। जैसे वह दृष्टि निश्चेतन हो।

रत्नप्रभा ने कहा, "इन ढङ्गों में नौकरी करोगे ? जाओ—अपनी भीख माँगो।"

मोटर चल दी, और लड़का अपनी जगह आ पालथी मारकर डफली पर गीत गाने लगा, "ए मुसाफिर, रंगे दुनिया चन्द रोज़।"

घर आई तो रत्नप्रभा अपने से परेशान थी। लड़के को वह कुछ कठोर दण्ड देना चाहती थी, पर तय न कर पाती थी। अन्त में उसने शोफ़र को बुलाकर आज्ञा दी कि आज शाम को पाँच बजे तक उस लड़के को यहाँ ठीक हालत में आजाना चाहिए—ठीक कपड़े, ठीक शक्ल। साथ का सामान उसका फेंकना नहीं, लेते आना।

कहा, वैसा हुआ। लड़का सभ्य वेश में रत्नप्रभा के सामने उपस्थित हुआ। इस रूप में वह बुरा नहीं लगता था।

रत्नप्रभा ने कहा, "क्यों जी, तुम्हें मालूम है, तुम कैसे दीखते हो ? लो देखो ।" कहकर उसे हाथ से मोड़कर आइने की तरह सीधा कर दिया । पीछे खड़ी होकर स्वयं देखने लगी । देखा कि लड़का स्वयं अपने बिम्ब को भी उसी दृष्टि से देख रहा है, जैसे उसे देखता था । दृष्टि निश्चेष्ट है और निर्भाव । यह दृष्टि अपने से हटकर दर्पण में रत्नप्रभा के चेहरे की ओर आई, क्षणभर रत्नप्रभा आशा से स्तब्ध हो रही । लेकिन देखा तो दृष्टि वही थी, जैसे पत्थर की मूर्ति देखती हो । उसमें कोई क्रिया; कोई प्रतिक्रिया न थी ।

रत्नाप्रभा पलङ्ग पर आ बैठी । बोली, "उधर ही देखते रहोगे ? सुनो, इधर सुनो ।"

लड़के ने उधर मुँह कर लिया ।

"तुम्हें सब काम मेरे करने होंगे । नहीं मन्जूर हो, तो अब भी कह दो । यह रही तुम्हारी कफ़नी और डफली, अब भी जा सकते हो ।"

सब काम करने के सम्बन्ध में लड़के ने कोई असमहति नहीं बतलाई ।

"क्यों जी, बाँसुरी भी बजाते हो ?"

उसके सामान में से बाँसुरी निकालकर रत्नप्रभा ने उसे देते हुए कहा, "लो, बजाओ तो ।"

लड़का बाँसुरी हाथ में टिकाए उसी भाँति खड़ा रहा ।

"विघ्न की सोचते हो ? लो, किवाड़ बन्द किये देती हूँ, अब किसी का विघ्न न होगा !"

यह कह उसने खड़े होकर बाहर जाने के दोनों दरवाजे बन्द कर दिए । कहा, "बजाओ ।"

लड़का उसी भाँति खड़ा रहा, बाँसुरी मुँह पर नहीं ली।

रत्नप्रभा ने कहा, "तुमको मैं कह नहीं चुकी हूँ, नौकरी में तुम्हें मेरा सब काम करना होगा ?"

लड़के ने कहा, "नौकरी नहीं करूँगा।"

पहले तो सुनकर वह देखती-की-देखती रह गई। फिर मारे गुस्से के उसके सामान को मेज़ पर से उठाकर, फेंकती हुई बोली, "अरे, ये जो तेरे कपड़ों में सत्तर रुपये खर्च हुए हैं, सो बता, अब तेरे किस बाप से मैं लूँ, भिखमङ्गे ? कह दिया नौकरी नहीं करूँगा। तू और करेगा क्या ? तू तो वही जूठे टुकड़े खायगा ? तू उसी लायक है।"

लड़का उसी निर्विकार दृष्टि से देखता हुआ खड़ा रहा। सब सुना, पर कुछ न कहा।

रत्नप्रभा कुछ देर स्वयं ही अपने क्रोध को व्यर्थ करती रही। अन्त में बोली, "घर में झाड़ू-बुहारी करोगे ? सफ़ाई-धुलाई करोगे ?"

"करूँगा।"

"गाना नहीं गाओगे ?"

लड़का चुप रह गया।

रत्नप्रभा ने कहा, "इन कपड़ों में झाड़ू दोगे ? तुम्हें कपड़े की भी लाज नहीं है ?" कहकर उसने दरवाजे खोल दिए और घण्टी बजाई।

घंटी पर वही शोफ़र उपस्थित हुआ। उसे कहा, "सुनो, इस आदमी को ले जाओ। मंगत को दफ्तर की तरफ भेज देना वहाँ से उसे ड्रेस मिलेगी। और उसका पुराना जोड़ी-कपड़ा लेकर इसे

दे देना और उस का सब काम इसे बता देना—क्यों, तुम्हारा नाम क्या है ?"

लड़के ने कहा, "मालूम नहीं।"

रत्नप्रभा बोली, "अजब पागल हो, नाम भी मालूम नहीं है। लोग कुछ तो कहते होंगे ?"

"नन्हा बैरागी कहते हैं।"

"नन्हा बैरागी !" कहकर रत्नप्रभा ज़ोर से हँस उठी। बोली, "अँगरेज़ी बाल बैरागियों के नहीं होते हैं। जाओ, सुना ? तुम बैरागी नहीं हो। और यह तुम्हें तुम्हारा काम बता देंगे।"

चलते हुए मेज़ से लड़के ने अपनी कफ़नी उठा लेनी चाही। पर रत्नप्रभा ने कहा, "इसमें कोई लाल नहीं टँके हैं, जो बैरागी को इतना लोभ है ! इसको यहीं रहने दो। तुम जाओ, काम देखो।"

यह काम देखने चला गया। उसके बाद रत्नप्रभा को भी बहुत काम हो आया। रत्नप्रभा उद्यत रहती है और धन पर हाथ नहीं रोकती। इससे अल्पायु में ही अनायास वह सार्वजनिकता के लिए आवश्यक होती जा रही है। इस तरह की अनेकानेक व्यस्तताओं से उसे अवकाश नहीं मिलता। घर से आते-जाते रोज़ देखती है कि वह आदमी (जिसका नाम मंगल पड़ गया है) आधी धोती में उसी के हुक्म की प्रतीक्षा में बाहर चौखट से लगा बैठा है। पर उसे समय नहीं है और वह देखती हुई निकल जाती है।

मंगल तमाम घर साफ करता है। सबके कपड़े धोता है। और इस घर के दूसरे नौकरों की भी ताबेदारी निबाहता है। यह वह जानती है और सन्तुष्ट है। एक रोज़ जाते-जाते उसने कृपापूर्वक पूछा, "मंगल आराम से हो ?"

मंगल ने चेहरा उठाकर मालकिन की ओर देखा। वही दृष्टि, जिसमें अभाव है न अभियोग। मानो एक चट्टान की स्थिरता।

रत्नप्रभा प्रश्न पूछती हुई बिना उत्तर लिये बाहर निकल गई और परेशान हो गई। उसकी परेशानी यह थी कि सब काम ठीक हो रहा है। मंगल सबेरे उठता, भजन गुनगुनाता और औरों के उठने से पहले तमाम घर साफ़ कर डालता है। यही सब रत्नप्रभा को ठीक नहीं लगता।

उसने शोफ़र को बुलाकर डाँटकर कहा, "तुम्हारे नए आदमी को इतनी तमीज़ नहीं कि हम जायँ तो अदब से उसे खड़ा होना चाहिए। वह भी मुझे सिखाना पड़ेगा ?"

देखा गया कि आगे से मंगल रत्नप्रभा के जाते समय झुककर बन्दगी करने लगा है। पर इससे रत्नप्रभा की परेशानी कम न हुई। लगा कि आदमी नहीं झुकता, यन्त्र झुकता है।

इन्हीं दिनों रत्नप्रभा को मालूम हुआ कि उसे शिमला जाना होगा। एक शिष्टमण्डल के शिमला जाने की आवश्यकता उसने महिला-समिति को क्या सुझाई कि वह काम उसी पर आ पड़ा।

रत्नप्रभा ने शोफ़र को बुलाया और कहा, "मेरे साथ शिमला एक आदमी जायगा। कौन जायगा ?"

शोफ़र ने कहा, "जिसे आज्ञा हो।"

"तुम्हारा नया आदमी कैसा है ?"

"है चुस्त, पर बोलता नहीं है।"

"गूँगे का मुझे क्या करना है ? लेकिन बिलकुल नहीं बोलता है ? और काम तो कर लेता है। बदतमीज़ तो नहीं है ?"

"अभी नया है; बेअदब तो नहीं है।"

"उसे बुलाओ तो।"

मंगल आकर सामने खड़ा हो गया। जैसे बुत हो और अन्दर की आँखों से देख रहा हो।

रत्नप्रभा ने जल्दी से शोफ़र से कहा, "जाओ दफ्तर से स्टोर के लिए दो गरम सूट का आर्डर करा लाओ। सोमवार को जाना है।"

शोफ़र सुनकर ठिठका रह गया। बोला, "हज़ूर, पर्ची—"

रत्नप्रभा बिगड़कर बोली, "क्या बात है जी, पुराने होकर भूलते जाते हो! कह नहीं रही हूँ, आर्डर टाइप करा लाओ, दस्तखत ले जाना। या—"

शोफ़र सिर झुकाकर चला गया। तब रत्नप्रभा ने कहा, "मंगल, सुनते हो? तुम किसी से बोलते क्यों नहीं?"

मंगल ने सुनकर ऊपर देखा, उत्तर नहो दिया।

"गाते भी नहीं?"

इसका भी उत्तर उसने नहीं दिया।

रत्नप्रभा बोली, "यहाँ तुम गाते क्यों नहीं हो?"

वह अपनी उसी दृष्टि से देखता रह गया, कुछ भी कहने का प्रयास नहीं किया।

अवश भाव से रत्नप्रभा बोली, "तुम अच्छा गाते हो। भक्ति के भजन मुझे अच्छे लगते हैं। पर भक्ति मेरी छूट गई है। मुझे और तरह के काम रहते हैं। पर तुम्हें क्या हुआ है? बहुत बुरी हूँ? तुम्हें यह ख्याल तो नहीं कि मैंने तुम्हें पिटवाया था? झाड़-बुहारी का काम पसन्द न हो, तो तुम छोड़ दो। तुमने एक बार भी नहीं कहा कि तुम्हें वह नापसन्द है। देखती हूँ, तुम इसका भी अहसान नहीं मानते कि मैंने तुम्हें कैसी हालत से बचाया है।... तो क्या मैं इतनी बुरी हूँ।....शिमले में जंगल हैं, पेड़ हैं। कभी

देखा है ? नहीं देखा होगा। वहाँ सुनसान भी बहुत है। यहाँ जैसा वहाँ नहीं है। वहाँ तुम खुलकर गा सकते हो। क्या देखते हो ? इस तरह नहीं देखना चाहिए—ले आए।"

शोफ़र से लेकर कागज पर रत्नप्रभा ने दस्तखत कर दिये और कहा, "लो मंगल, अब तुम इनके साथ जाओ। मुझे फुर्सत नहीं होगी, लेकिन सोमवार को जाना है। तैयार रहना कि कहते ही चल सको।"

दोनों को भेजकर वह पलंग पर लेट गई। बहुत दिनों में वह दिन में पलंग पर लेटी है। लेटकर अपने मन को पाना चाहती है। पर वहाँ थाह नहीं मिलती। तो शिमला न जाऊँ ? अकेली न जाऊँ ? इस प्रकार उधेड़-बुन में रहकर अन्त में इच्छापूर्वक उसने सोचा कि यह आदमी जड़ है, इसको सीधा करना होगा।

शिमला में उसने एक अलग कोठी ली। वहीं एक पहाड़ी नौकर की व्यवस्था की। मंगल से कहा, "तुम आजाद थे, मैंने तुमको बन्धन में डाला। यहाँ तुम नौकर नहीं हो, जो चाहे कर सकते हो।"

वह सुनता हुआ खड़ा रह गया।

रत्नप्रभा बोली, "घूमो, रहो, गाओ। मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है। अब तुम आजाद होकर खुश हो ?"

उसके चेहरे पर न खुशी थी, न रंज। बदन पर नया सूट था, जो वहाँ रखा हुआ मालूम होता था। उत्तर के लिए जब उसने अपने को विवश पाया तो कहा, "मेरी कफ़नी कहाँ है ? वह मिल जाय तो मैं चला जाऊँगा।"

रत्नप्रभा जल्दी से बोली, "कहाँ चले जाओगे ? मैं तुम्हें अलग थोड़े ही कर रही हूँ। यह कपड़े तुम्हारे हैं, जगह तुम्हारी

है। तुम ऐसे बेगाने-से क्यों रहते हो? मैं तो कहती हूँ कि तुम पाबन्द नहीं हो। अब तुम गा सकते हो। बाँसुरी बजा सकते हो। यह लो, तुम्हारी बाँसुरी मैं लेती आई हूँ। तुम बड़े इकले रहते हो और बोलते नहीं हो। यह ठीक नहीं है। हम सब भी तो दुनिया में हैं, तुम्हारे लिए जैसे कोई नहीं है। ऐसे इकले तुम क्यों रहते हो? मैं हूँ। मैं तुम्हें यहाँ ले आई हूँ। मैं तुम्हारे लिए और भी कर सकती हूँ। तुम क्या चाहते हो?"

वह लड़का रत्नप्रभा की सारी बातें सुनता हुआ चुप ही रह गया। जैसे वह कुछ समझा ही नहीं।

रत्नप्रभा कहती रही, "मैंने तुम-सा आदमी नहीं देखा। जो इतना जड़ है कि—पता ही नहीं। अरे, बोलते क्यों नहीं कि तुम क्या चाहते हो?"

रत्नप्रभा को ऐसा मालूम होता था कि जैसे उसके सामने वह कुछ भूल जाता है। जैसे जाने कहाँ हो। वह उस सारे काल भौंचक-सा बना रहता है। रत्नप्रभा रीझती है, खीझती है; पर वह यह सब अपने में ही कर लेती है। वह तो अचल पत्थर की मूर्ति की नाईं खड़ा ही रहता है।

रत्नप्रभा गुस्से में भरकर बोली, "जाओ, हटो मेरे सामने से!"

उसी गुस्से में ट्रंक में से कफ़नी निकालती हुई फेंककर बोली, "लो, और निकलो यहाँ से।"

कुछ देर तो लड़का विस्मय में डूबा खड़ा देखता रहा। फिर अपनी कफ़नी और बाँसुरी लेकर वहाँ से चल खड़ा हुआ।

रत्नप्रभा देखती रही और कुछ नहीं बोली। वह अपने को नोंच लेना चाहती थी। ऐसा अपमान उसका कभी नहीं हुआ

था। उठकर कोठी की बाल्कनी पर आ गई और सामने फैले बेतरतीब पहाड़ी ढालुओं को देखने लगी। देखती क्या है कि लड़का कफ़नी पहिने और बाँसुरी हाथ में लिए कोठी से निकला चला जा रहा है। वह अपने स्थान से हिली न डुली, और लड़का उतरता हुआ घने पेड़ों के अँधेरे में धीरे-धीरे मिल कर ओझल हो गया।

पेड़ वे असंख्य हैं। उनमें गहरी छाँह है। उनमें सब छिप जाता है। उसमें सब खो जाता है। कैसे वे घनियारे हैं! अँधेरे और गहरे और मौन। बादलों का उन पर वसन है, जैसे सब रहस्यमय हो। यह वन, अवसन्न प्रतीक्षा में, क्या किसी को बुला रहा है? किस को बुला रहा है?

रत्नप्रभा इसी तरह दूर तक फैले हुए तमसावृत वन-प्रान्त को अपनी बाल्कनी पर खड़ी देखती रही। मानो क्रमशः सघन होते हुए उस अपार अन्धकार की गोद में से उसे कुछ निमन्त्रण प्राप्त हो रहा हो। पर हठात् वह लौटी। आकर अपने काम में लग गई।

दिन बीत गया। शाम भी बीत चली। तब उसने लम्बी साँस ली। चलो छुट्टी हुई। जाना था, वह चला गया। उसने चाय मँगाई, और चाय आ गई। चाय से उसे फरहरी आई। बहुत सरदी है। चारों तरफ शाल लपेट कर उसने खिड़की खोल ली। दूर तक बादल-ही-बादल थे। कुछ दीखता नहीं था। अदृश्य बादल खिड़की में से सारे कमरे में भरे आ रहे थे। शाल लेकर उसने कानों को भी ढँक लिया। बाहर बूँदा-बाँदी हो रही थी, उसने चाय का दूसरा कप बनाया और उसमें से उठती भाप को देखा।

रात पड़ने पर उसने पहाड़ी से पूछा तो मालूम हुआ कि लड़का यहीं मौजूद है। सुनकर रत्नप्रभा ने उधर ध्यान नहीं दिया। लेकिन

लड़के ने स्वयं अपनी चिन्ता कर ली थी। खाना खा लिया था और कम्बल लेकर ऊपर कोने में आकर सो गया था।

इसी तरह क्रम चलता रहा। लड़का खाने के समय आता, बाकी समय बाहर रहता। एक-आध रात भी उसने बाहर कहीं बिताई।

एक दिन रत्नप्रभा ने उससे कहा, "तुम उस पहाड़ी लड़की को बाँसुरी बजाकर सुनाते हो! वह बहुत सुन्दर है?"

लड़के ने कहा, "वह मुझसे हँसती है।"

"तुम भी उससे हँसते हो?"

"हाँ, मैं भी उससे हँसता हूँ।"

"तो तुम इकले नहीं हो? वैरागी नहीं हो?"

"नहीं हूँ।"

"तुम मेरे साथ तो नहीं हँसते। मैं हँसूँगी?"

लड़का चुप रह गया।

"हँसोगे नहीं और बाँसुरी भी नहीं बजाओगे—मैं ऐसी बुरी हूँ।"

लड़का कुछ नहीं बोला, उसी तरह देखता रहा।

"लेकिन मैं बुरी नहीं हूँ। बाँसुरी बजाओगे, तो मैं सुनूँगी। हँसोगे, तो मैं हँसूँगी। तुम मुझसे ऐसे क्यों रहते हो?"

लड़का कुछ नहीं बोल सका।

रत्नप्रभा बोली, "उससे तुम प्रेम करते हो?"

लड़के ने उत्तर नहीं दिया।

"उससे विवाह करोगे?"

इसका भी उसने कुछ उत्तर नहीं दिया।

"उसके घर वालों की यह शर्त है कि विवाह करके तुम्हें यहीं बसना होगा, जानते हो ?"

"जानता हूँ !"

"तो तुम मेरे साथ नहीं चलोगे ?"

लड़का चुप रह गया।

रत्नप्रभा ने उसी समय पहाड़ी नौकर और उसकी बहिन को बुलाया। कहा, "अब हम कल चले जायँगे। तुम हिसाब कर लो, और अभी तुम जा सकते हो।"

उनके जाने पर रत्नप्रभा ने लड़के से कहा, "अब सब काम यहाँ का तुमको करना है, और तुम मेरे साथ ही चलोगे।"

लड़के ने इस पर किसी तरह की आपत्ति नहीं की। वह बिना कहे-सुने घर की सफ़ाई से लेकर खाना बनाना आदि सब काम करने लगा। वह काम करने के सिवाय घर से बाहर नहीं जाता था, बोलता भी नहीं था।

रत्नप्रभा इस आदमी से परेशान थी। सब काम एकदम ठीक करता है। ऐसा भी क्या आदमी कि यन्त्र हो ! इस बार गुसलखाने में जो पहुँची और पानी डालने को हुई तो देखा कि जगह पर साबुनदानी नहीं है। उसने जोर से आवाज़ दी, "साबुन कहाँ है ?"

लड़के ने कहा, "अन्दर ही है।"

रत्नप्रभा बोली, "यहाँ नहीं है; देखकर लाओ।"

लड़का अपनी जगह ही रहा। वहीं से कहा, "देखिए, वहीं होगा।"

रत्नप्रभा झींककर बोली, "अरे आँख के अन्धे, यहाँ आकर बता, कहाँ है ?"

लड़के ने कुछ नाराज़ी में कहा, "कह रहा हूँ, देखिये वहीं होगी।"

स्नानागार के दरवाज़े का पट ज़ोर से बाहर फेंककर रत्नप्रभा बोली, "वहीं से बातें बना रहा है। यह नहीं कि आ के निकाल दे। कहाँ है ?"

कहकर एक तौलिया उसने अपने बदन पर ले लिया। लड़के ने आकर पंजों के बल खड़े होकर पीछे से खींचकर डिबिया उतार दी।

रत्नप्रभा बोली, "देखो भला, मैं वहाँ से खींचकर कैसे लेती ? और यह पानी ! खड़े क्या हो, हाथ डालकर देखो, गरम है ? और गरम लाओ।"

उसने गरम पानी ला दिया।

"तुमसे इतना कहा, बालटी को पटड़े से इतनी दूर न रखा करो। अब मैं कैसे सरकाऊँ ? इसमें और ठंडा मिलाओ, अभी और। अरे, बस बस..."

लड़का सब काम करके चला आया। रत्नप्रभा नहा कर आई तो बहुत असन्तुष्ट थी, "ऐसे कैसे चलेगा जी ? मन तुम्हारा कहाँ रहता है ? उस लड़की की बातें सोचा करते हो ? काम में ध्यान रखा करो।"

उस दिन संध्या से ही बारिश होने लगी थी। बौछार तेज़ पड़ रही थी। शायद ओले तक हों। हवा साँय-साँय करती हुई किवाड़-खिड़कियों पर थपेड़े दे रही थी।

रत्नप्रभा ने रजाई चारों तरफ़ लपेट ली। हवा कहीं से आती तो बर्छी की धार-सी लगती थी। उसने लड़के को बुलाकर कहा, "इस वक्त चाय बना सकते हो ?"

लड़का तभी जाकर चाय बना लाया।

रत्नप्रभा ने कहा, "लो बैठ जाओ। खड़े क्यों हो ?—आओ, यहाँ बैठ जाओ।"

बहुत कहा तो लड़का स्टूल लाकर बैठ गया। चाय भी ले ली।

रत्नप्रभा, "तुम्हें सरदी नहीं लगती ? मुझे तो रज़ाई में भी सरदी लग रही है। ऐसे समय मेरे लिए चाय बना कर लाये हो—तुम कौन हो ? नौकर कभी ऐसे काम नहीं करता। सच कहो, मुझे—क्या समझते हो ?"

लड़का आँख फाड़े उसे देखता रह गया।

रत्नप्रभा बोली, "सुनो, मुझे कोई नहीं समझता। इसी से मैंने तुम्हें पीटा—इसी से तुमसे काम लेती हूँ। इसी से सबसे नाराज़ होती हूँ। कोई मुझे समझे तो मैं अच्छी हो सकती हूँ। तुम मुझे अच्छा बना रहे हो। पर तुम चुप रहते हो और मुझे शक होता है, और मैं बुरी हो जाती हूँ। मैं भी अकेली हूँ। बहुत अकेली। तुम अब नहीं गाते—प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो।"

लड़का यह सब सुनता रहा।

"मैं अब भी कहने को सोचती हूँ कि प्रभु जी मेरे अवगुन चित में न लाना! सोचती हूँ, पर कहती नहीं, भूल जाती हूँ। हम सब भूल जाते हैं। मुझे काम रहता है। कामों में हम सब भूल जाते हैं।...तुम कहाँ सोओगे? वहाँ हवा तो नहीं आती?"

"नहीं आती।"

"नीचे सोते हो? एक कम्बल में सरदी नहीं लगती?"

"नहीं लगती।"

रत्नप्रभा देखती रही। सहसा बोली, "मैंने क्या बिगाड़ा है? मुझे क्यों सताते हो ? तुमसे बदला ले रही हूँ, इससे तुम मुझसे

बदला ले रहे हो ? मैं तुम्हें पहचानती हूँ । तुम वह नहीं हो जो दीखते हो। जब तुम सब सहते हो, तुम सब सुनते हो, तब यह नहीं कि तुम सब देखते भी नहीं हो। नहीं, तुम समझते हो। सच कहो, गुस्सा करती हूँ, इसके लिए मैं गुस्से के लायक हूँ ? तुम गुस्सा नहीं करते। तुम, प्रेम करते हो। कह सकते हो कि तुम प्रेम नहीं करते ? मैं तुम्हारी आँखों में सब देखती हूँ, तुम यहाँ आओ, मेरे पास बैठो ।"

लड़का विवश-सा बढ़ता हुआ उसके पास जा बैठा। रत्नप्रभा ने दोनों हाथों से उसका हाथ पकड़ा और अपने माथे पर रख लिया। माथा गरम था।

"यह क्या, तुम्हें बुखार है !"

रत्नप्रभा ने कहा, "बुखार नहीं है, तुम बैठो।"

"बुखार तेज़ है ।"

कहकर, खड़े होकर उसने शाल को रत्नप्रभा पर ठीक कर दिया कि कान ढँक जायँ और खुद लेकर उसकी दोनों बाहों को रज़ाई के अन्दर कर दिया। अनन्तर चिमनी की आग में और लकड़ी डाल दी।

अनन्तर चलने लगा, तो रत्नप्रभा बोली, "कहाँ जाते हो ?"

लड़के ने कहा, "डाक्टर को लिये आता हूँ।"

रत्नप्रभा ने कहा, "नहीं । सुनो, मेरी एक बात सुन जाओ। यहाँ आकर बैठो।"

उस अनुरोध-भरी ध्वनि पर वह ठिठका और आकर सिरहाने के पास बैठ गया।

रत्नप्रभा का ज्वर चढ़ता जा रहा था। बोली, "इस छद्म वेश में क्यों जी, तुम क्यों आये ? यह तो परीक्षा का क़ायदा नहीं है।

लेकिन अब मैं तुम्हें पहचान गई हूँ। अब छलना में आने वाली नहीं हूँ।"

कहकर रत्नप्रभा ने दोनों बाहें उसकी टाँगों पर डाल दीं। वह कहती गई, "मेरे मान की परीक्षा ही लेने आए हो न तुम, बैरागी? मुझे मान पर चढ़ाकर तुम झुकते चले गए, झुकते चले गए। अब मैं वह खेल समझ गई हूँ। अब तो तुम्हारे झाँसे में आकर तुम्हें जाने देने वाली मैं नहीं हूँ, मेरे मौनी। म्हाने चाकर राखो जी, प्रभु म्हाँने..."

लड़का घबराहट से रत्नप्रभा के चेहरे को देखता रहा। फिर व्यग्रता से वह उठ खड़ा हुआ।

रत्नप्रभा हाथ पकड़ कर बोली, "कहाँ जाते हो, मेरे बैरागी? यह कह जाओ कि तुम्हें गुस्सा नहीं हैं, और मुझे माफ़ कर दिया।"

लड़का असहाय पड़ी रत्नप्रभा की आँखों में करुणा से देखता हुआ ठिठका खड़ा रह गया।

एकाएक उसका हाथ छोड़ कर रत्नप्रभा ने कहा, "अब जाओ, तुम्हारी आँखों में मैंने सब पा लिया। सब पा लिया, अब तुम जाओ।"

लड़का तुरन्त डाक्टर को लेने चला गया।

डाक्टर की सहायता और अपनी अथक सेवा से रत्नप्रभा को उसने पूरी तरह स्वस्थ कर लिया। उसके बाल अब बढ़ गये थे और पहले की तरह वह कफनी ही पहिनने लगा था।

कुछ स्वस्थ होकर रत्नप्रभा ने कहा, "मैं वचन देती हूँ कि अब तुम्हें खोऊँगी नहीं, लक्ष्मी चंचल है, संसार असार है और अकिंचन भक्ति ही व्यक्ति का सर्वस्व है। यह मैं तुमसे देख सकी। अहंकार की जगह यह बात मुझ में बसी रहे, इसके लिए सदा

तुम्हारा ध्यान धरूँगी । पर अब जाते हो, तो भी अपनी बाँसुरी मुझे नहीं सुनाओगे ?"

तब प्रथम वार रत्नप्रभा के प्रति मुस्करा कर बालक ने बाँसुरी ओठों से लगाई ।

सुनकर रत्नप्रभा बेसुध हो रही। सुधि आई तो बाँसुरी वाला जा चुका था।

●

ध्रुव-यात्रा
७

: १ :

राजा रिपुदमन बहादुर उत्तरी ध्रुव को जीत कर योरुप के नगर-नगर से बधाइयाँ लेते हुए हिन्दुस्तान आ रहे हैं। यह खबर अखबारों ने पहले सफे पर मोटे अक्षरों में छापी।

उर्मिला ने खबर पढ़ी और पास पालने में सोते शिशु का चुम्बन लिया।

अगले दिन पत्रों ने बताया कि योरुप के तट एथेन्स से हवाई जहाज पर भारत के लिये रवाना होते समय उन्होंने योरुप के लिये सन्देश माँगने पर कहा कि उसे 'अद्भुत' की पूजा की आदत छोड़नी चाहिये।

उर्मिला ने वह भी पढ़ा।

अब वह बम्बई आ पहुँचे हैं, जहाँ स्वागत की जोर-शोर की तैयारियाँ हैं। लेकिन उन्हें दिल्ली आना है। नागरिक आग्रह कर रहे हैं और शिष्ट-मण्डल मिल रहा है। उसकी प्रार्थना सफल हुई तो वह दिल्ली के लिये कल रवाना हो सकेंगे! अखबार के विशेष

प्रतिनिधि का अनुमान है कि उनको झुकाना कठिन होगा। वह यद्यपि सबसे सौजन्य से मिलते हैं, पर यह भी स्पष्ट है कि उनको अपने सम्बन्ध के प्रदर्शनों में उल्लास नहीं है। सम्वाददाता ने लिखा है, "मैं मिला तब उनका चेहरा ऐसा था कि वह यहाँ न हों, जाने कहीं दूर हों।"

उर्मिला ने पढ़ा और पढ़कर अखबार अलग रख दिया।

सचमुच राजा रिपुदमन बम्बई नहीं ठहर सके। छपते-छपते की सूचना है कि आज सबेरे के झुटपुटे में उनका जहाज निर्विघ्न दिल्ली पहुँच गया है।

एक दिन, दो दिन, तीन दिन। उर्मिला रोज अखबार पढ़ती है। इन दिनों वह कहीं बाहर नहीं गई। राजा रिपु को लोग अवकाश नहीं दे रहे हैं। सुना जाता है कि वह दिल्ली छोड़ेंगे। कहाँ जाएँगे, इसके कई अनुमान हैं। निश्चय यह है कि जाएँगे किसी कठिन यात्रा पर।

उर्मिला ने सदा की भाँति यह भी पढ़ लिया।

चौथे दिन एक बड़ा मोटा लिफ़ाफ़ा उसे मिला। अन्दर खत संक्षिप्त था। पढ़ा, और उसी तरह मोड़कर लिफ़ाफ़े में रख दिया। फिर बच्चे की ओर ध्यान दिया। वह जागने को तैयार न था। फिर भी उठा कर उसे कन्धे से लगाया और कमरे में डोलने लगी।

: २ :

इधर राजा रिपुदमन को अपने से शिकायत है। उन्हें नींद कम आती है। मन पर पूरा काबू नहीं मालूम होता। सामने की चीज पर एकाग्र होने में कठिनाई होती है। नहीं चाहते, वहाँ ख्याल जाते हैं। कभी तो अपनी ही कल्पनाओं से उन्हें डर लगने लगता है। अभी योरुप से आते हुए, ऊपर आसमान की तरह

नीचे भी गहन और अपार नीलिमा को देखकर उन्हें होता था कि क्यों इस जहाज से मैं इस नगर में कूद नहीं पड़ूँ। सारांश, इसी तरह की अस्त-व्यस्त बातें उनके मन में उठ आया करती हैं और वह अपने से असन्तुष्ट हैं।

योरुप में ही उन्होंने मानसोपचार के सम्बन्ध में आचार्य-मारुति की ख्याति सुनी थी। भारत में, और तिस पर दिल्ली में रहकर जिन मारुति को नहीं जानते थे, उन्हीं के विषय में योरुप के देशों से वह बड़ी श्रद्धा लेकर लौटे हैं। इसलिये अवकाश पाते ही वह उनकी शरण में पहुँचे। यद्यपि सन् १९६० की बात है कि जिस वर्ष आचार्य का देहान्त हुआ, पर उस समय वह जीवित थे।

अभिवादनपूर्वक आचार्य ने कहा, "वैद्य के पास रोगी आते हैं। विजेता मेरे पास किस सौभाग्य से आये हैं ?"

रिपु, "रोगी ही आपके पास आया है। विजेता छल है और उस दुनिया के छल को दुनिया के लिये छोड़िये। पर आप तो जानते हैं।"

आचार्य, "हाँ, चेहरे पर आपके विजय नहीं पराजय देखता हूँ। शिकायत क्या है ?"

रिपु, "मैं खुद नहीं जानता। मुझे नींद नहीं आती। और मन पर मेरा काबू नहीं जमता।"

"हूँ, क्या होता है ?"

"जो नहीं चाहता, मन के अन्दर वह सब-कुछ हुआ करता है ?"

"खास तौर पर आप क्या नहीं चाहते ?"

"क्या कहूँ ? यही देखिये कि हिन्दुस्तान लौट आया हूँ, जबकि ध्रुव पर अभी बहुत काम बाकी है। विजेता शब्द व्यंग्य है, ध्रुव

देश भी हम सब के लिये उद्यान होना चाहिये। एक अकेला झण्डा गाड़ आने से क्या होता है? यह सब काम बाकी है। फिर भी मैं हिन्दुस्तान आ गया। भला क्यों?"

मारुति गौर से रिपुदमन को देखते रहे। बोले, "तो हिन्दुस्तान न आना जरूरी था।"

"हाँ, आना किसी भी तरह जरूरी न था।"

"क्यों? हिन्दुस्तान तो घर है।"

"पर क्या मेरा? मेरा घर तो ध्रुव भी हो सकता है।"

आचार्य ने ध्यानपूर्वक रिपुदमन को देखते हुए कुछ हँसकर कहा, "यानी हिन्दुस्तान को छोड़ कर कोई घर हो सकता है।"

राजा रिपुदमन ने उत्साह से कहा, "लेकिन क्यों कोई घर हो? और मेरे-जैसे आदमी के लिए!"

आचार्य, "खैर, अब हम काम की बातें करें। अभी मैं कुछ नहीं कह सकता। कल पहली बैठक दीजिये, तीन बज कर बीस मिनट पर। डायरी रखते हैं? नहीं, तो अब से कल तक की डायरी रखिये। साथ जो खर्च करें उसका पाई-पाई हिसाब और जिनसे मिलें उनका ब्यौरा भी लिखियेगा।"

रिपु, "आपका क्या ख़याल है? नरवस सिस्टम में कुछ ख़राबी है?"

"वह सब अभी न कह सकूँगा। मैं सोचता हूँ, कोई ख़राबी नहीं है। मैं वैज्ञानिक से अधिक विश्वासी हूँ। विश्वास में बहुत शक्ति है। अब हम कल मिलेंगे।...जी नहीं, इसके लिए बाहर सेक्रेटरी है।"

बड़े-बड़े नोटों को वापस पर्स में रखते हुए राजा ने कहा, "मेरा स्वास्थ्य आप मुझे दे दें तो मैं बड़ा ऋणी होऊँ।"

आचार्य हँसकर बोले, "लेकिन आप तो स्वस्थ ही हैं। म आत्मा को मानता और शरीर को जानता हूँ। शरीर आत्मा का यन्त्र है। यन्त्र आप का साबित है, नीरोग है—सब अवयव ठीक हैं। कृपया कल सवेरे आप यहाँ के यन्त्र-मन्दिर में भी हो आएँ। सेक्रेटरी सब बता देंगे। वहाँ आप के हृदय, मस्तिष्क और शेष शरीर का पूरा निरीक्षण हो जायगा और परिणाम दोपहर तक मैं देख चुकूँगा। यह सब शास्त्रीय सावधानी है और उपयोगी भी है। लेकिन आप मान लें कि आपका शरीर एक दम तन्दुरुस्त है। ...कल डायरी लाइयेगा।"

अगले दिन रिपुदमन समय पर पहुँचे। आचार्य ने तरह-तरह के नक्शे और चित्र उनके आगे रखे और कहा, "देखिए, आप के यन्त्र का पूरा खुलासा मौजूद है। मस्तक और हृदय-सम्बन्धी परिणाम सही नहीं उतरे हैं तो विकार उन अवयवों में मत मानिए। व्यतिरेक यों है भी सूक्ष्म······डायरी है?"

रिपुदमन ने क्षमा माँगी, कहा, "मैं चित्त को उस जितना भी तो एकाग्र न कर सका।"

आचार्य हँसे, बोले, "कोई बात नहीं; अगली बार सही, यह कहिये कि अपने भाई महाराज-साहब और रानी-माता से मिलने आप जाइयेगा। विजेता को जीतने के लिए मारके बहुत हैं, पर अपनों का मन जीतना भी छोटी बात नहीं है। मैंने कल फ़ोन पर महाराज से बातें की थीं। आप जो करो वह उस में खुशी हैं। लेकिन अपने सुख से आप इतने विमुख न रहो—यह भी वह चाहते हैं। अच्छे-से-अच्छे सम्बन्ध मिल सकते हैं, या आप चुन लो। विवाह अनिष्ट वस्तु नहीं है। वह तो एक आश्रम का द्वार है। क्यों, यह चर्चा अरुचि-कर है?"

रिपुदमन ने कहा, "जी, मैं उसके अयोग्य हूँ। विवाह से व्यक्ति रुकता है। वह बँधता है। वह तब सबका नहीं हो सकता। अपना एक कोल्हू बनाकर उस में जुता हुआ चक्कर में ही घूम सकता है। नहीं, उस बारेमें मुझे कुछ कहने को नहीं है।"

आचार्य हँसकर बोले, "विवाह चक्कर सही। लेकिन प्रेम ?"

रिपुदमन ने कुछ जवाब नहीं दिया।

"प्रेम से तो नाराज़ नहीं हो ? विवाह का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। प्रेम के निमित्त से उसकी सृष्टि है। इससे विवाह की बात तो दुकानदारी की है। सचाई की बात प्रेम है। इस बारे में तुम अपने से बात करके देखो। वह बात डायरी में दर्ज कीजिएगा। अब परसों मिलेंगे।"

"परसों यदि न गया।"

"कहाँ न गये ?"

"यही हिमालय या कहीं।"

"जहाँ चाहे जाओ। लेकिन मेरा दो बैठकों का कर्ज अभी बाकी है। परसों वही तीन-बीस पर आप आओगे। अब घड़ी हमें समय देना नहीं चाहती।"

"परसों के विषय में मैं आशावान से अधिक नहीं हूँ।"

"अच्छा तो कल उनसे मिल कर आशा को विश्वास बना लीजिए, जिनसे न मिलने के लिए मुझ से मिला जाता है। फ़ोन पर मिलिये, वह न हो और दूरी हो तो हवाई यात्रा कीजिए। पर खटका छोड़कर उनसे मिलिये—अवश्य और कल ! रेग्युलेटर जहाँ है उसके विपरीत मेरी सलाह जाकर बेकार ही हो सकती है।"

रिपुदमन ने चमक कर कहा, "किसकी बात आप करते हैं।"

"नहीं जानता वह कौन है ! और जानूँगा तो आप ही से

जानूँगा।...देखिये ध्रुव से और हिमालय से लड़ाई भी ठीक-ठीक तभी आपकी चलेगी, जब अपनी लड़ाई एक हद तक सुलझ चुकेगी। प्रेम का इनकार अपने से इनकार है।...लेकिन घड़ी की आज्ञा का उल्लङ्घन हम अधिक नहीं करेंगे।"

"देखिये, परसों यदि आ सका।"

"आ आएँगे...नमस्कार।"

"नमस्कार।"

: ३ :

समय सब पर वह जाता है और अखबार कल को पीछे छोड़ आज पर चलते हैं! राजा रिपु नयेपन से जल्दी छूट गए। ऐसे समय सिनेमा के एक बाक्स में उर्मिला से उन्होंने भेंट की। उर्मिला बच्चे को साथ लाई थी। राजा सिनेमा के द्वार पर उसे मिले और बच्चे को गोद में लेना चाहा। उर्मिला ने जैसे यह नहीं देखा और अपने कन्धे से उसे लगाए वह उनके साथ जीने पर चढ़ती चली गई। बाक्स में आकर व्यस्ततापूर्वक उन्होंने बिजली का पङ्खा खोल दिया, पूछा, "कुछ मँगाऊँ?"

"नहीं!"

घण्टी बजाकर आदमी को बुलाया, कहा, "दो क्रीम?"

उसके जाने पर कहा, "लाओ मुझे दो न, क्या नाम है!"

उर्मिला ने मुस्कराकर कहा, "नाम अब तुम दो।"

"तो लो, आदित्यप्रसन्नबहादुर खूब है!"

"बड़े आदमी बड़ा नाम चाहते हैं। मैं तो मधु कहती हूँ।"

"तो वह भी ठीक है, माधवेन्द्रबहादुर खूब है!"

"तुम जानो। मुझे तो मधु काफी है।"

इस तरह कुछ बातें हुईं और बीच ही में जरूरत हुई कि दोनों खेल से उठ जायँ और कहीं जाकर आपस की सफ़ाई कर लें।

दूर जमुना किनारे पहुँचकर राजा ने कहा, "अब कहो, मुझे क्या कहती हो?"

"कहती हूँ कि तुम क्यों अपना काम बीच में छोड़कर आए?"

"मेरा काम क्या है?"

"मेरी और मेरे बच्चे की चिन्ता जरूर तुम्हारा काम नहीं है। मैंने कितनी बार तुम से कहा, तुम उससे ज्यादा के लिए हो।"

"उर्मिला, अब भी मुझ से नाराज़ हो??"

"नहीं, तुम पर गर्वित हूँ।"

"मैंने तुम्हारा घर छुड़ाया। सब में रुसवा किया। इज्ज़त ली। तुमको अकेला छोड़ दिया। उर्मिला, मुझे जो कहो थोड़ा। पर अब बताओ, मुझे क्या करने को कहती हो? मैं तुम्हारा हूँ। न रियासत का हूँ, न ध्रुव का हूँ। मैं बस, तुम्हारा हूँ। अब कहो।"

"देखो राजा, तुम भूलते हो। गिरिस्ती की-सी बात न करो। महाप्राणों की मर्यादा और है। तुम उन्हीं में हो। मेरे लिए क्या यही गौरव कम है कि मैं तुम्हारे पुत्र की माँ हूँ। मुझे दूसरी सब बातों से क्या मतलब है? लेकिन तुम्हें हक नहीं कि मुझ से घिरो। दुनिया को भी जताने की ज़रूरत नहीं कि मेरा बालक तुम्हारा है। मेरा जानना मेरे गर्व को काफ़ी है। मेरा अभिमान इसमें तीसरे को शरीक न करेगा। लेकिन मैं अपने को क्षमा नहीं कर सकूँगी, अगर जानूँगी कि मैं तुम्हारी गति में बाधा हूँ। अपने भीतर के वेग को शिथिल न करो, तीर की नाईं बढ़े चलो कि जब तक लक्ष्य पार हो। याद रखना कि पीछे एक है जो इसी के लिए जीती है।"

"उर्मिला, तुमने मुझे ध्रुव भेजा। कहती थी—उसके बाद मुझे दक्षिणी ध्रुव जीतने जाना होगा। क्या सच मुझे वहीं जाना होगा?"

"राजा, कैसी बात करते हो! तुम कहीं रुक कैसे सकते हो? जाना होगा नहीं, जाओगे? अतुल वेग तुम में है, क्या वह यों ही? नहीं, मैं देखूँगी कि कुछ उसके सामने नहीं टिक सकता। मैं तुम्हारी बनी तो क्या इतना नहीं कर सकती? इस पुत्र को देखो। भवितव्य के प्रति यह तुम्हारा दान है। अब तुम उऋण हो, गति के लिए मुक्त हो। ध्रुव धरती के हो चुकेंगे तब कि आकाश के सामने होंगे। राजा तुमको रुकना नहीं है। पथ अनन्त हो, यही गति का आनन्द है।"

"उर्मिला, मै आचार्य मारुति के गया था—"

"मारुति! वह ढोंगी?"

"वह श्रद्धेय हैं, उर्मिला!"

"जानती हूँ, वह स्त्री को चूल्हे के और आदमी को हल के लिए पैदा हुआ समझता है। वह महत्त्व का शत्रु और साधारणता का अनुचर है। उसने क्या कहा?"

"तुम उन्हें जानती हो?"

"माँ उनकी भक्त थीं। वह अकसर हमारे यहाँ आते थे। उन्हीं की सीख से माँ ने मुझे संस्कृत पढ़ाई और नई हवा से बचाया। तभी से जानती हूँ। वह तेजस्विता का अपहर्ता है। अब वहाँ न जाना। उसने कहा क्या था?"

"कहा था, यह गति अगति है। जगह बदलना नहीं, सचेत होना गतिशीलता का लक्षण है। उसकी शायद राय है कि मुझे घूमना नहीं, विवाह करना चाहिए।"

"मैं जानती थी। और तुम्हारी क्या राय है?"

"वही जानने तुम्हारे पास आया हूँ। मारुति सब जानते हों, मुझ को तुम ही जानती हो। इसलिए तुम ही कहो, मुझको क्या करना है?"

"विवाह नहीं करना है।"

"उर्मिला!"

"तुम्हारा शरीर स्वस्थ है और रक्त उष्ण है तो···"

"उर्मिला!"

"तो स्त्रियों की कहीं कमी नहीं है।"

"बको मत, उर्मिला, तुम मुझे जानती हो।"

"जानती हूँ, इसी से कहती हूँ। तुम्हारे लिए क्या मैं स्त्री हूँ? नहीं, प्रेमिका हूँ। मैं इस बारे में कभी भूल नहीं करूँगी। इसी लिए किसी स्त्री के प्रति तुम में मैं निषेध नहीं चाह सकती। मुझ में तुम्हारे लिए प्रेम है, इससे सिद्धि के अन्त तक तुम्हें पहुँचाये बिना मैं कैसे रह सकती हूँ।"

"उर्मिला, सिद्धि मृत्यु से पहले कहाँ है?"

"वह मृत्यु के भी पार है, राजा! इससे मुझ तक लौटने की आशा लेकर तुम नहीं जाओगे। सौभाग्य का क्षण मेरे लिए शाश्वत है। उसका पुनरावर्तन कैसा?"

"उर्मिला, तो मुझे जाना ही होगा? तुम्हारा प्रेम दया नहीं जानेगा?"

"यह क्या कहते हो, राजा! मैं तुम्हें पाने के लिए भेजती हूँ, और तुम मुझे पाने के लिए जाते हो। यही तो मिलने की राह है। तुम भूलते क्यों हो?"

"उर्मिला, आचार्य मारुति ने कहा था—साधारण रहो, सरल रहो। हम दोनों कहीं अपने साथ छल तो नहीं कर रहे हैं ?"

"नहीं राजा, मारुति नहीं जानता। वह समझ की बात समझ से जो परे है, उस तक प्रेम ही पहुँच सकता है। जाओ राजा, जाओ। मुझ को परिपूर्ण करो, स्वयं भी सम्पूर्ण होओ।"

"देखो उर्मिला, तुम भी रो रही हो।"

"हाँ, स्त्री रो रही है, प्रेमिका प्रसन्न है। स्त्री की मत सुनना, मैं भी पुरुष की नहीं सुनूँगी। दोनों जने प्रेम की सुनेंगे। प्रेम जो अपने सिवा किसी दया को, किसी कुछ को नहीं जानता।"

: ४ :

पौने चार बजे राजा रिपु आचार्य के यहाँ पहुँचे। डायरी दी। आचार्य ने उसे ग़ौर से देखा। अनन्तर नोटबुक अलग रखी। कुछ देर विचार में डूबे रहे। अनन्तर सहसा उबरकर बोले, "क्षमा कीजियेगा। मैं कुछ याद करता रह गया। आपने डायरी में संक्षिप्त लिखा। उर्मिला माता है और कुमारी है—यही न ?"

"जी।"

"तुम्हारे पुत्र की अवस्था क्या है ?"

"वर्ष से कुछ अधिक।"

"उत्तरी ध्रुव जाने में उर्मिला की सम्मति थी ?"

"प्रेरणा थी।"

"यह विचार उसने कहाँ से पाया ?"

"शायद मुझ से ही।"

"आरम्भ से तुम विवाह को उद्यत थे, वह नहीं ?"

"जी नहीं। मैं बचता था, वह उद्यत थी।"

"हुँह ! बचते थे, अपनी स्थिति और माता-पिता के कारण ?"

"कुछ अपने स्वप्नों के कारण भी।"

"हूँह,...फिर ?"

"गर्भ के बाद मैं तैयार हुआ कि हम साथ रहें।"

"विवाहपूर्वक ?"

"जी, वह चाहे तो विवाहपूर्वक भी।"

"हूँह,...फिर ?"

"तब उसका आग्रह हुआ कि मुझे ध्रुव के लिए जाना होगा।"

"तो उस आग्रह की रक्षा में आप गये ?"

"पूरी तरह नहीं। मन से मैं भी साथ रहने का बहुत इच्छुक न था। इससे निकल जाना चाहता था।"

"तुम्हारे आने से तो वह प्रसन्न हुई ?"

"शायद हुई। लेकिन रुकने से अप्रसन्न है।"

"क्या कहती है ?"

"कहती है कि जाओ। जय-यात्रा की कहीं समाप्ति नहीं। सिद्धि तक जाओ, जो मृत्यु के पार है।"

अकस्मात् आवेश में आकर आचार्य बोले, "कौन, उर्मिला ? वही धनञ्जयी की लड़की ? वह यह कहती है ?"

"जी !"

"वह पागल है।"

"यही वह आपके बारे में कहती है।"

आचार्य जोर से बोले, "चुप रहो, तुम जानते नहीं। वह मेरी बेटी है।"

"बेटी !"

"मैं बुड्ढा हूँ, रिपु, तुम समझदार हो। हाँ, सगी बेटी।"

"आचार्यजी, यह आप क्या कह रहे हैं ? तो आप सब जानते थे।"

"सब नहीं तो बहुत-कुछ जानता ही था। देखो रिपुदमन, अब बताओ तुम क्या कहते हो ?"

"मैं कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं कहता। मेरे लिए सब उर्मि से पूछिये।"

"सुनो रिपुदमन, तम अच्छे लड़के हो। उर्मि मुझ से बाहर न होगी। पुत्र की व्यवस्था हो जायगी और तुम लोग विवाह करके यहीं रहोगे।"

रिपुदमन ने हाथों से मुँह ढककर कहा, "मैं कुछ नहीं जानता। उर्मि कहे, वही मेरी होनहार है।"

"उर्मि तो मेरी ही बेटी है, रिपुदमन, निराश न हो।"

: ५ :

आचार्य के समक्ष पहुँचकर उर्मिला ने कहा, "आपने मुझे बुलाया था ?"

"हाँ बेटी, रिपुदमन ने सब कहा है। जो हुआ, हुआ ! अब तुम्हें विवाह कर लेना चाहिए।"

"अब से मतलब कि पहले नहीं करना चाहिए था ?"

"विवाह हुआ है तब तो खुशी की बात है फिर वह प्रकट क्यों न हो ? तुम दोनों साथ रहो।"

"भगवान् पर तो सब प्रकट है। और साथ बहुतेरे लोग रहते हैं।"

"तो तुम क्या चाहती हो ?"

"वही जो राजा रिपुदमन उस अवस्था में चाहते थे, जब मुझे मिले थे। उनके स्वप्न मेरे कारण भग्न होने चाहिए कि पूर्ण ? मेरी

चिन्ता उन्हें उनके प्रकृत मार्ग से हटाये, यह मैं कैसे सह सकती हूँ ?"

"स्वप्न तो सत्य नहीं हैं, बेटी ! तब की मन की बहक को उसके लिए सदा क्यों अंकुश बनाए रखना चाहती हो ? एक भूल के लिए किसी से इतना चिढ़ना न चाहिए।"

"आचार्यजी, आप किस अधिकार से मुझ से यह कह रहे हैं ?"

"रिपु ने जो अपनी हैसियत और माता-पिता के ख्याल से आरम्भ में विवाह में झिझक की, इसी का न यह बदला है ?"

"आचार्यजी, आप इन बातों को नहीं समझेंगे । शास्त्र में से स्त्री को आप नहीं जान लेंगे।"

"बेटी, फिर कोई किसमें से किस को जानेगा, बता दो ?"

"सब-कुछ प्रेम में से जाना जायगा जो कि मेरे लिए आपके पास नहीं है।"

"सच बेटी, मेरे पास वह नहीं है। और तेरे लिए जितना चाहूँ उतना है, यह मैं किसी तरह न कह सकूँगा । लेकिन तुमसे जो सचाई छिपाता रहा हूँ और अब छिपा रहा हूँ, वह अनर्थ अपने लिए नहीं, तेरे प्रेम के लिए ही मुझसे बन सका है, यह भी झूठ नहीं है। बेटी, मैं काफ़ी जी लिया । अब मरने में देर लगाने की बिलकुल इच्छा नहीं है। ऐसे समय तेरे अहित की बात कह सकूँगा, ऐसा निठुर मुझे न मानना । रिपुदमन को भरमा मत, उर्मिला ! किसी का सपना होने के लिए वह नहीं है। तुम लोग विवाह करो और राज-मार्ग पर चल पड़ो।"

उर्मिला ने हँस कर कहा, "आप थक गए हैं, आचार्यजी ! भीड़ चलती रही है, इसी कारण जो प्रशस्त और स्वीकृत हो गया है वहाँ आपका राज-मार्ग है न ? पर मुक्ति का पथ अकेले का है । अकेले

ही उस पर चला जायगा। वहाँ पाण्डव तक पाँच नहीं हैं। सब एक-एक हैं।"

"बेटी, यह क्या कहती है? सनातन ने जिसको प्रतिष्ठा दी है, बुद्धि के अहङ्कार में उसका तर्जन श्रेयस्कर नहीं होने वाला है। उर्मिला, यह एक बुड्ढे की बात रखो। पर बेटी, उसे छोड़ो। बताओ, मुझे माफ़ कर सकोगी?"

"आप रिपुदमन को, अपनी समझ से, उसके हित की ओर मोड़ना चाहते हैं, उसके लिए आप को क्षमा माँगने की ज़रूरत है?"

"तो तुम रिपु से नाराज़ ही रहोगी? उसके साथ अपने को भी दण्ड ही देती रहोगी?"

"मुझे पाने के लिए उन्हें जाना होगा; उन्हें पाने के लिए मुझे भेजना होगा—यह आपको कैसे समझाऊँ?"

"हाँ, मैं नहीं समझ सकूँगा। लेकिन मेरा हक और दावा है। सोचता था, भगवान् के आगे पहुँचूँगा, उससे पहले उस बात को कहने का मौका नहीं...! क्यों, तू अपने पिता की भी बात नहीं मानेगी?"

"पिता को जीते-जी इस सम्बन्ध में, मैं कब सन्तोष दे सकी?"

"बेटी, अब भी नहीं दे सकेगी?"

उर्मिला ने चौंक कर कहा, "क्या आचार्य जी?"

मारुति का कंठ भर आया। काँपते हुए बोले, "हाँ बेटी! चाहे तो अब तू अपने बाप को सन्तोष और क्षमा दोनों दे सकती है।"

उर्मि स्तब्ध, आचार्य को देखती रही। उनकी आँखों से तार-तार आँसू बह रहे थे! उनकी दशा दयनीय थी। बोली, "मुझ अभागिन के भाग्य में आज्ञा-पालन तक का सुख, हाय, विधाता

क्यों नहीं लिख सका ? जाती हूँ, इस हतभागिन को भूल जाइएगा।"

: ६ :

रिपुदमन ने कहा, "आचार्य से तुम मिली थीं ?"

"मिली थी।"

"अब मुझे क्या करना है ?"

"करना क्या है राजा, तुम्हें जाना है, मुझे भेजना है !"

"कहाँ जाना है—दक्षिणी ध्रुव !"

"हाँ, नहीं तो उत्तर के बाद कहीं तुम दक्षिण के लिए शेष न रहो !"

"दक्षिण के बाद फिर किसी के लिए शेष बचने की बात नहीं रह जायगी न ?"

"दिशाओं के द्वार-दिगंत में हम खो जायँ। शेष यहाँ किसको रहना है ?"

"छोड़ो, मैं तुम्हें नहीं समझता, तुम्हारी संस्कृत नहीं समझता। सीधे बताओ, मुझे कब जाना है ?"

"जब हवाई जहाज मिल जाय।"

"तो लो, तुम्हारे सामने फोन से तय किये लेता हूँ।"

फोन पर भी बात करते समय टकटकी बाँधकर उर्मिला रिपु को देखती रही। अनन्तर पूछा, "तो परसों शटलैण्ड द्वीप के लिए पूरा जहाज हो गया ?"

"हाँ, हो गया।"

"लेकिन परसों कैसे जाओगे, दल जुटाना नहीं है ?"

"तुम्हारा मन रखूँगा ! दल के लिए नहीं ठहरूँगा।"

"लेकिन उसके बिना क्या होगा ? नहीं, परसों तुम नहीं जाओगे।"

"और न सताओ उर्मिला, जाऊँगा। अमरीका फ़ोन किये देता हूँ। दक्षिण से कुछेक साथी हो जायँगे।"

"नहीं राजा, परसों नहीं जाओगे।"

"मैं स्त्री की बात नहीं सुनूँगा; मुझे प्रेमिका के मन्त्र का वरदान है।"

आँखों में आँसू लाकर उर्मिला ने रिपु के दोनों हाथ पकड़कर कहा, "परसों नहीं जाओगे तो कुछ हरज है ? यह तो बहुत जल्दी है ?"

रिपु हाथ झटक कर खड़ा हो गया। बोला, "मेरे लिए रुकना नहीं है। परसों तक इसी प्रायश्चित्त में रहना है कि तब तक क्यों रुक रहा हूँ।"

उर्मिला के फैले हुए हाथ खाली रहे। और वह कहती ही रही, "राजा, ओ मेरे राजा !"

: ७ :

दुनिया के अख़बारों में धूम मच गई। लोगों की उत्कण्ठा का ठिकाना न था। योरुप, अमरीका, रूस आदि देशों के टेलीफ़ोन जैसे इसी काम के हो गए। ध्रुव-यात्रा योजना की बारीकियाँ पाने के बारे में सम्वाददाताओं में होड़ मच उठी। रिपुदमन उन्हें कुछ न बता सका, यह उसकी दक्षता का प्रमाण बना। हवाई जहाज़ जो शटलैंड के लिए चार्टर हुआ था, उसकी भिन्न-भिन्न कोणों से ली गई असंख्य तस्वीरें छपीं।

उर्मिला अख़बार लेती, पढ़ती और रख देती। अनन्तर शून्य में देखती रह जाती। नहीं तो अपने बच्चे में डूबती।

एक दिन, दो दिन। वह कहीं बाहर नहीं गई। टेलीफ़ोन पास रख छोड़ा। पर कोई नहीं, कुछ नहीं। अखबार के पन्नों से आगे और कोई बात उस तक नहीं आई।

आज अन्तिम सन्ध्या है। राष्ट्रपति की ओर से दिया गया भोज हो रहा होगा। सब राष्ट्र-दूत होंगे, सब नायक, सब दलपति। गई रात तक वह इन कल्पनाओं में रही।

तीसरा दिन। उर्मिला ने अखबार उठाया। सुर्खी है और बाक्स में खबर है। राजा रिपुदमन सवेरे खून में भरे पाये गए। गोली का कनपटी के आरपार निशाना है।

खबर छोटी थी, जल्दी पढ़ ली गई। लेकिन पूरे अखबार में विवरण और विस्तार के साथ दूसरी सूचनाएँ थीं। जिन्हें उर्मिला पढ़ती ही चली गई, पढ़ती ही चली गई। पिछली संध्या को जगह-जगह राजा रिपुदमन के सम्मान में सभाएँ हुई थीं। उनकी चर्चा थी। खास कर राष्ट्रपति के उस भोज का पूरा विवरण था, जिसे दुनिया का एक महत्त्वपूर्ण समारोह कहा गया था।

उर्मिला रस की एक बूँद नहीं छोड़ सकी। उसने अक्षर-अक्षर सब पढ़ा।

दोपहर बीत गई, तब नौकरानी ने चेताया कि खाना तैयार है। इस समय उसने भी तत्परता से कहा, "मैं भी तैयार हूँ। यहीं ले आओ। प्लेट्स इसी अखबार पर रख दो।"

उसी दिन अखबारों ने अपने खास अङ्क में मृत व्यक्ति का तकिये के नीचे से मिला जो पत्र छापा था, वह भी नीचे दिया जाता है।

"सब के प्रति—

बन्धुओ,

मैं दक्षिणी ध्रुव जा रहा था, सब तैयारियाँ थीं। ध्रुव में मुझे महत्त्व नहीं है। फिर भी मैं जाना चाहता था। कारण, इस बार मुझे वापस आना नहीं था। ध्रुव के एकान्त में मृत्यु सुखकर होती। ध्रुव-यात्रा मेरी व्यक्तिगत बात थी, उसे सार्वजनिक महत्त्व दिया गया, यह अन्याय है। इसी शाम राष्ट्रपति और राष्ट्रदूतों ने मुझे बधाइयाँ दीं, मेरे पराक्रम को सराहा। पर उन्हें छल हुआ है। मैं यह श्रेय नहीं ले सकता। यह चोरी होगी। उस भ्रम में लोगों को रखना मेरे लिए गुनाह है। क्या अच्छा होता कि ध्रुव मैं जा सकता, लेकिन लोगों ने सार्वजनिक रूप से जो श्रेय मुझ पर डाला, उसका स्वल्पांश भी किसी तरह अपने साथ लेकर मैं नहीं बढ़ सकता हूँ। यात्रा एक दम निजी कारणों से थी। मुझे बहुत खेद है कि मैं किसी से मिले आदेश और उसे दिये अपने वचन को पूरा नहीं कर पा रहा हूँ, लेकिन ध्रुव पर भी मुझे बचना था नहीं। इसलिए बचना अब नहीं है। मुझे सन्तोष है कि किसी की परिपूर्णता में काम आ रहा हूँ। मैं पूरे होश-हवाश में अपना काम तमाम कर रहा हूँ। भगवान् मेरे प्रिय के अर्थ मेरी आत्मा की रक्षा करें!"

बीड्रिस

जैनेन्द्र के प्रतिनिधि [handwritten: illegible]

"नहीं, मैं रायसाहब की सम्मति से सहमत नहीं हो सकूँगा।" अवकाश-प्राप्त मेजर रघुराज ने कहा, "स्त्री पुरुष का सम्बन्ध वह नींव नहीं है जिस पर नीति या धर्म को खड़ा होना चाहिये। वह आनुषंगिक बात है। उसका कुछ भी मतलब नहीं है। उस पर से किसी के बारे में कोई राय मैं कायम नहीं करूँगा।"

डा० कैलाशनारायण ने कहा, "तब आखिर वह मान हमारे पास क्या रह जायगा, जिससे हम चरित्र को नापें? सम्बन्धों में एक मर्यादा तो होनी चाहिये। वह मर्यादा मानसिक होकर अनिश्चित हो जायगी। इससे उसे शारीरिक ही रखना होगा।"

रायसाहब ने कहा, "मैं तर्क नहीं कर सकता। मैं बहुत नहीं जानता। दिमाग से जानी बात अन्तिम होती भी नहीं, हमारी धारणाएँ मन-बचाव हैं। सचाई उनसे घिर कहाँ पाती है?"

डाक्टर ने तब हँसकर कहा, "छावनी और समाज अलग चीजें हैं। समाज मर्यादाओं को मान कर ही चल सकता है, छावनी में इन चीजों के बारे में शिथिलता हो तो क्या अचरज?" कहकर डा० नारायण ने विजय की मुस्कराहट से मेजर को देखा।

मेजर उदास थे, बोले, "यह बात ठीक है। हम फौजियों में उच्छृङ्खलता होती है। लेकिन मुझे आपके समाज में चरित्र की वह ऊँचाई मिली जिसका अनुभव फौज की चरित्रहीनता में मुझे हुआ है, यह कहना कठिन है। मैं अपनी बीती सुनाता हूँ।"

कहकर अनुमति की अपेक्षा में मेजर ने दोनों बन्धुओं की तरफ देखा।

डाक्टर कैलाश ने कहा, "हाँ, सुनाओ, फौज के किस्से चटपटे होते हैं।"

खिन्न मुस्कराहट से मेजर ने आरम्भ किया, "हाँ, चटपटे तो होते ही हैं। लेकिन...तब की बात है जब जर्मनों से फ्लैंडर्स में हमारा मुकाबिला हुआ था। हमारी टुकड़ी आगे थी। बढ़कर हम ने एक पहाड़ी पर कब्जा किया हुआ था और उनकी भीषण गोला-बारी भी हमें वहाँ से हटा न सकी। वह जगह खास मौके की थी और जर्मनों को आगे कदम बढ़ाने के लिये उस पहाड़ी को कब्जे में लेना बहुत जरूरी था। मैं टुकड़ी की कमान पर था। धीरे-धीरे हमारे आदमी कम होते जा रहे थे। पीछे से रसद भी टूट गई थी। हमने पीछे से सम्बन्ध जोड़ना चाहा, पर जर्मनों ने हमारे दरम्यान दरार डाल दी थी। अब हमने देखा कि हम घिर गये हैं कुछ देर और भी हम पहाड़ी की चोटी पर टिके रह सकते थे। लेकिन इससे पहले कि जर्मनों का घेरा हम पर कसता जाय और हम घुट जाएँ, मौका था कि पीछे की अपने दरम्यान जर्मनों की दरार तोड़ते हुए हम अपने मेनकैम्प में जा मिलें। यही उपाय था कि हम अपने कुछ आदमियों और सामान को बचा सकते। तत्काल यह निर्णय करके पीछे की तरफ हमने पहाड़ी उतरना शुरू किया। नीचे नहीं आ पाए थे कि दुश्मन की गोलियाँ सनसनाती आने

लगीं। हम थोड़े जन बचे थे और गोला-बारूद भी कम था। बड़ी तोप ऊपर से ला न सके थे। मैंने मालूम कर लिया था कि यहाँ शत्रु की एक पंक्ति है। सीना खोल कर सीधे तेज चाल से बढ़ते चले जायँ तो सम्भव है कि कुछ हममें से बचकर निकल जाएँ। जीते-जी जर्मनों के हाथ में हममें कोई कैदी बनने को तैयार नहीं था। सब लोग तत्पर थे कि गोलियों की बौछार में से भी बढ़ते ही जाएँगे। यह सोचकर धीमे-धीमे घुटने और कहीं पेट के बल रेंगते, पेड़ों की ओट लेते, ऐसी जगह पर हम आ गए, जहाँ से दुश्मन के आदमियों पर थोड़ा- बहुत निशाना साधा जा सकता था। वहाँ से जितने हो सके, दुश्मन के आदमियों को हमने निशाना बनाया। फिर कारतूस खतम होने पर संगीन खोल कर दो-दो की कतार में हम आँख की सीध में तीर की तरह भाग छूटे।

आगे नहीं कह सकता कि क्या हुआ? कौन कहाँ गिरा और कैसे मरा, पता नहीं। उस जीती मौत से मेरे सिवा टुकड़ी में का एक ही आदमी और बच सका। मुझे तो संगीन खोलकर भागने के क्षण के बाद अस्पताल में ही अपना पता चला। चारों तरफ से गोलियाँ बरस रही थीं। और मैं चलता चला जा रहा था। कहाँ, कब, क्या, किधर, सब-कुछ मेरे लिये लुप्त हो गया था। मानो पहाड़ की चोटी से अनल अथाह में मैं कूद पड़ा था। मालूम होता है कोई गोली मुझे लगी थी। पेट में से कोई कारतूस निकला बड़े गोले से निकली उनकी छोटी-बड़ी वर्छियाँ मेरे पेट को छलनी कर गई थीं।

जो हो मैं कैम्प के अस्पताल में था। और होश आया तब पेट में बहुत घाव था।

फिर तो फ्लैंडर्स में हमें और भी पीछे हटना पड़ा। यहाँ तक

कि उसे छोड़ना ही पड़ा। मैं कुछ दिनों बाद कैम्प के अस्पताल से लन्दन के एक अस्पताल में आ गया।

अस्पताल में मुझे पूरे पाँच महीने रहना पड़ा। चलते समय मन में था और अब भी है कि क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि मैं बीमार रहकर सदा उसी अस्पताल में रहा चला आऊँ? यह प्रश्न अस्पताल की एक सिस्टर के कारण मन में हुआ था।

यहाँ कुछ अपनी बात कह लूँ। फौज में मैं किसी विश्वास के कारण नहीं था। जर्मनों से घृणा नहीं थी। देश पर प्रेम नहीं था। वेतन का लाभ, यह भी न कह सकूँगा। बात यह थी कि अपने साथ मैं कोई खतरे का खेल खेलना चाहता था। मेरी समझ में न आता था कि क्यों जी रहा हूँ, क्यों जीऊँ? इस की तुक खोजे न मिलती थी। कोई मुझे अपने लिए केन्द्र प्राप्त न था। रोमांस के दिन बीत चुके थे। वह मूर्खता भी अब वश की न थी। प्रेम आकाश से उतर शरीर पर आ गया था और उस तल पर बराबर जिन्दगी में साथ चल रहा था। पर आकृष्ट बिलकुल न करता था, बल्कि ऊब होती थी। अब वह प्रेम एक लगी लत भर था। स्त्री आवश्यक पदार्थ से अधिक न रह गई थी। पत्नी थी, पर उसे मेरी चिन्ता न थी। और बच्चों को छोड़े मुझे वर्षों हो गए थे। फौज ने जीवन के तल को शारीरिक बना दिया था और मुझे ऐसा लगता था कि मुझे जीना नहीं है, सिर्फ रहते जाना है। जिसे सिर्फ रहना है, वह सब चीजों से पाक है। उसे नेक और बद नहीं रहते। उसके लिए कहीं कोई अर्थ ही नहीं रहता। शायद कुछ ऐसी ही वजह हो कि हम फौजी झड़प के लिए, नशे के लिए और मौत के लिए सदा तैयार रहते हैं। बन्दूक उठाई और सामने वाले को मार दिया। उसने बन्दूक तान ली तो उसकी नली के मुँह की सीध में

बढ़ते चले गए। जब हर घड़ी सिर पर मौत है और कहीं कोई मतलब नहीं है, तो समझा ही जा सकता है कि ऐसे आदमी का नतीजा क्या होगा! फौज के कवायद ही मानो हम को कायम रखते थे। दिनों का चक्कर तब मानो अपने ही जोर से चलता था। हमें कुछ न करना होता था।

अब अस्पताल के भी कवायद हैं। इतनी बार और इस वक्त टेम्परेचर; बँधे वक्त दवाओं के डोज और बँधा खाना; डाक्टर और सिस्टर का चक्कर और नर्सों की हाजरी।

मैं जख्म का ड्रैसिंग आराम से करा लेता था। घाव गहरा और बड़ा था। समझा जाता था कि ऐसे घायल को रोना-चीखना चाहिए। ये उम्मीद डाक्टरों, नर्सों और आसपास के लोगों की आँखों में मुझे स्पष्ट दीखती थी। मेरी तरफ से उनको इस विषय में निराशा ही मिलती गई। दर्द अन्दर से बहुत मालूम हो रहा है और ऊपर से मैं काबू किये हुए हूँ—ऐसा आभास भी मुझ पर से उन्हें न मिलता था। इस तरह धीरे-धीरे करके डाक्टर और दूसरे लोग मेरे जख्म के साथ किसी क़दर आजादी से पेश आने लगे।

ड्रैसिंग की बात तो यह थी। लेकिन दवा का पीना मुझे नागवार था। न तो वह जहर था; न खुशजायका ही थी। अधिक कड़वी चीज पी जाने की कोई बात हो तो लुत्फ भी है। आधा चमचा पीने में क्या बहादुरी है? ऐसी छोटी-मोटी तकलीफें पाना या देना मुझे पसन्द नहीं। तलवार का हाथ सिर को धड़ से जुदा कर दे तो उसमें एक सफाई की बात है। पर पिन चुभाने में क्या इन्सानियत है?

दवा का पैमाना लेकर नर्स सिराहने आ खड़ी होती तो मैं

उसकी तरफ देखता रह जाता। जी होता कि कहूँ कि जहर लाई हो तो लाओ पिऊँ। पर तमाशा मुझे अच्छा नहीं लगता। पर मैं नर्स की तरफ देखकर जान-बूझकर कुछ भी कहने से रह जाता था। वह आकर पैमाना लेकर, ऐसी मशीन के पुर्जे की तरह अचल खड़ी हो जाती कि मुझे ख्याल होता कि एक बेड के पास डेढ़ मिनट रहकर फिर दूसरे पर इसे चले जाना है। इसे दवा से या मरीज से वास्ता नहीं है। ड्यूटी से ही वास्ता है। उस तमाम चेहरे पर ड्यूटी को लिपे-पुते देखता तो तत्काल हाथ बढ़ाकर दवा का गिलास लेकर हलक में डाल लेता। फिर नर्स को देखने लगता। वह चार्ट उतारती, करने का काम करती, और आगे बढ़ जाती।

यहाँ की नर्सों के चेहरे पर अधिकतर मुझे यह ड्यूटी ही लिखी दीखती थी। और मैं दवा पीने जैसे व्यर्थ काम को स्कूल के बच्चे की तरह पूरा कर जाता था।

लेकिन एक नर्स आई, जिसके चेहरे पर ड्यूटी के सिवा और कुछ था। ड्यूटी वहाँ शायद थी ही नहीं। वह नई आई है। शोख है। और बे-बात हँसती है। किसी कदर बदन की दोहरी है। दवा देने से पहले बात करती है। बात करने से पहले मुस्कराती है। यह सब ड्यूटी में शामिल नहीं हो सकता। इसकी उससे माँग नहीं है और यह अयाचित है। फिर हँसने और सबसे बोलने-चालने की उसे क्या लाचारी है?

उस पर नर्स की इस व्यर्थ निष्प्रयोजन बात से हमारे वार्ड की हवा बदल गई है। मरीज महसूस करते हैं कि वे आदमी हैं। वे यह भी महसूस करते हैं कि नर्स सिर्फ नर्स नहीं है, वह स्त्री है।

खैर, पहले रोज वह सिरहाने आई और हँसकर बोली, "दवा,

मेजर, तुम्हें खुद मुझ से ले लेनी होगी, मैं नहीं दूँगी, हाथ बढ़ाओ।"

तब मुझे बहुत कौतुक मालूम हुआ। बोली, "कोशिश करो, पर देखो मेरा हाथ न छूना।"

मैंने तब मन की बात उससे कही। कहा, "एक काम करो, चुपके से यह दवा नीचे गिरा दो, तुम बड़ी अच्छी हो।"

एक साथ मुँह पर डर लाकर वह बोली, "ओ बाबा! कोई देख लेगा!"

मैंने कहा, "कोई नहीं देखेगा, तुम्हारी बड़ी मेहरबानी होगी!"

बोली, "अच्छा, तो तुम मेरा हाथ भी छू सकते हो। लो, अब तो पियो!"

इस पर मैंने उसके हाथ से दवा ली और गटक गया।

अगले दिन वह नर्स सिस्टर के साथ आई। मेरा चार्ट और दवा आदि दिखाकर बोली, "देखिए, क्या इनकी दवा अब बदली नहीं जा सकती? यह शिकायत करते हैं कि दवा इन्हें माफिक नहीं आती?"

सिस्टर ने चार्ट को गौर से देखा फिर मुझसे पूछा।

खयाल नहीं कि क्या पूछा, उनकी गर्दन मेरे ऊपर कुछ और झुकी हुई थी। मुँह कुछ पूछ रहा था और आँखें मेरी तरफ देख रही थीं। आँखों में कुछ तैरती हुई वस्तु थी। तमाम चेहरे पर ही कुछ था, जिससे मैं स्तब्ध रह गया। मैं नहीं सुन सका कि मुझसे क्या पूछा जा रहा है। यानी सुनकर ठीक-ठीक तरह से समझ नहीं सका। उस चेहरे के भाव में मैं खो गया। होश मुझे तब हुआ, जब मैंने पाया कि मेरा हाथ उनके हाथों में है। और वह

उसके नाखून देख रही हैं। फिर उन्होंने मेरी आँखों के पपोटे खोलकर देखे। पेट का जख्म देखा। सब देखकर नर्स से मुड़कर पूछा, "डाक्टर से कहा था ?"

नर्स ने कहा, "यह मरीज़ कभी किसी से कुछ नहीं कहता। अब तक एक बार भी यह चीखा-चिल्लाया नहीं है। जख्म बेहद गहरा है और दर्द न होना असम्भव है।"

मैंने बीच में टोककर कहा, "दर्द मुझे नहीं है। होता ही नहीं है।"

सिस्टर ने इस पर मेरी ओर देखा, मुस्कराकर बोली, "तुम्हारा क्या मतलब ?"

मैंने कहा, "शायद मेरे दिमाग़ की नसें कहीं जड़ हो गई हैं, दर्द को मेरी चेतना तक नहीं पहुँचातीं।"

अपने सम्बन्ध में किसी सहानुभूति की आवश्यकता से उन्हें निश्चिन्त बना देना चाहता था। इसलिए मानो किताब से ही शब्द उठाकर मैंने उन्हें कह दिए थे। मुझे अपने प्रति किसी की सहानुभूति अच्छी नहीं लगती। यह काफी शर्म थी कि बिस्तर पर पड़ा था। उसके ऊपर किसी की सहानुभूति भी व्यय करनी पड़े, यह तो असह्य ही था। और फिर स्त्री।

सिस्टर आँख फाड़कर मुझे देखती रही। अनायास दोहराकर यही बोली, "क्या मतलब ?"

यह बात जैसे उसने मुझ से नहीं पूछी हो, स्वयं अपने से ही पूछ रही हो।

मैंने उत्तर में कुछ-का-कुछ बक दिया। कहा, "जैसे आपके पास बाहरी साधन हैं, जिससे दर्द के अनुभव को मन्द या बन्द किया जा सके, इसी तरह अन्दर के साधन हैं। हम भारतीयों में

यह योग-विद्या प्राचीन है। चाहे शरीर के टुकड़े-टुकड़े भी हो जायँ, तब भी सम्भव है कि कष्ट न अनुभव हो।"

सिस्टर विस्मित भाव से मेरी ओर देखती रही।

उस समय में अगल्भ हो योग-क्रिया की अद्भुत महिमा बताने लगा। सुनते-सुनते बीच में सिस्टर ने झुककर मेरे माथे पर हाथ रखा, और कहा, "अब कुछ सो जाओ तो अच्छा है।"

मैं इस बात पर असन्तुष्ट-भाव से सिस्टर को देख उठा। कहा, "योग-शक्ति जिस के पास है उसे हफ्तों नींद न आए तो पर्वाह नहीं।"

सिस्टर सुनकर मेरे तकिये के पास बैठ गई। बोली, "अब बोलो नहीं, कृपया चुप होकर सो जाओ!"

मैंने कहा, "मुझे नींद की आवश्यकता नहीं! क्या आप समझती हैं कि मैं रात में सोता हूँ?"

सिस्टर ने अपने हाथ मेरी आँखों पर रख दिए और स्नेह-भाव से कहा, "अब तो मैं कह रही हूँ, सो जाओ।"

'यह मैं कह रही हूँ' कहने वाली 'मैं' ऐसी मेरी कौन है कि मुझे सो जाना होगा। क्षण के सूक्ष्म भाग तक यह प्रश्न मन में घूमकर स्वयं ही जैसे खो गया। उन हाथों के नीचे आँखों को बन्द कर मैं सब तरह की योग-विद्या को किनारे करके सोना चाहने लगा।

नर्स सिस्टर के पीछे खड़ी हुई थी, उससे कहा, "तुम अब जा सकती हो।"

कहकर वह मुझे आँखें खोलते देख कर बोली, "डरो नहीं, मैं बैठी हूँ। सोने की कोशिश करो।"

मैं सोने की कोशिश करने लगा। सोने की कोशिश सब तरह

की कोशिशों का अभाव ही है। स्नायु के तनाव शिथिल हो रहें तो नींद आप आ जाती है। सिस्टर के पास होने से सच-मुच एक शिथिलाता-सी देह में आने लगी। अपने-पन का मान अनावश्यक-सा हो चला। थोड़ी देर बाद मैंने कहा, "अब तुम जा सकती हो, सिस्टर !"

"तुम बात तो नहीं करोगे ?"

"नहीं।"

"आँखें भी नहीं खोलोगे ?"

"नहीं।"

"वचन दो तो मैं जा सकती हूँ।"

सच यह कि सिस्टर का इस तरह किसी के सिरहाने बैठना वैधानिक नहीं है। पर देखता हूँ कि इन सिस्टर से विधान नीचे है। इनके सम्बन्ध में पाबन्दियाँ उतनी कड़ी नहीं देखी जातीं। यहाँ सब उनको मानते हैं और आदर करते हैं।

मैंने कहा, "वचन भी देता हूँ, तुम जा सकती हो।"

उसने हाथ मेरे चेहरे पर से हटा लिया। मैं आँखें बन्द किये पड़ा रहा। लेकिन उन्हें उठकर जाने की जल्दी नहीं मालूम हुई।

बोली, "यहाँ परदेश में तुम्हें बहुत अकेला लगता होगा ?"

मैं सुनता हुआ चुप-चाप आँख मूँदे पड़ा रहा।

बोली, "हिन्दुस्तान हमारी लड़ाई में लड़ रहा है, यह उसका बड़ा अहसान है।"

इस बिन्दु पर मेरे मन में दुःख है। अंग्रेज़ की न्याय से अधिक मतलब पर आँखें नहीं हैं, यह अपने अनुभव के आधार पर नहीं कह सकता। इसलिए उस बात पर छेड़ा जाना मैं पसन्द नहीं करता, और मैंने कोई उत्तर नहीं दिया।

बोली, "हिन्दुस्तान हमारे अधीन है इसलिए हमारी लड़ाई उसके लिए प्रिय हो सकती थी। पर आप लोग लाचारी से नहीं, खुशी से जान दे रहे हैं। इस पर भगवान् के सामने मेरा सिर नीचा हो जाता है। तुम यहाँ बहुत अकेले तो नहीं हो?"

मैंने कहा, "नहीं।"

"नहीं" इसलिए कहा कि मैं किसी से इसकी चर्चा नहीं करना चाह था। अंग्रेज़ों में हम कालों के लिए प्रेम सच-मुच नहीं है। हम से काम ले सकते हैं, मन नहीं मिला सकते। पर इस बात की शिकायत क्या करनी है?

बोली, "अब से इकले न रहोगे।"

मैंने कुछ चिढ़ कर धीमे से कहा, "धन्यवाद, मैं सोने की कोशिश कर रहा हूँ—आप जा सकती हैं।"

"मुझे दुःख है" कहती हुई वहाँ से उठकर वह चली गई।

आज का यह दिन अस्पताल के और दिनों से कुछ अलग ही तरह का था। इस समय मुझे मालूम हो रहा था कि रोना दुर्गण नहीं है, मैं रोना चाहता था। दुःख से मैं नहीं घबराता हूँ, पर सुख मुझ से नहीं झिलता। शायद सुख के कारण ही मैं उस समय रोना चाह रहा था। खैर, मन का और शरीर का तनाव सिस्टर के सान्निध्य से शिथिल हो रहा था, और मुझे नींद आ गई थी।

उसके बाद अगले रोज ड्रैसिंग के समय घाव में मुझे पहली बार दर्द मालूम हुआ। मैंने ऊपर को निगाह कर अपने आसपास देखा। वह सिस्टर इस समय नहीं थी। वह होती तो मैं कराह कर कहता कि सिस्टर मुझे दर्द मालूम पड़ता है। लेकिन जब दूसरों के चेहरों को देखा तब लगा कि दर्द मुझे व्यर्थ ही मालूम हुआ है।

और सदा की भाँति धीरे और प्रसन्न भाव से अपने ऊपर ड्रैसिंग का काम मैंने पूरा करा लिया।

डाक्टरों के चेहरे का विस्मय देखकर मैं उल्टे उन्हें ढाढस देता था कि आप अपना काम बेफिक्री से कीजिए, मुझे किसी तरह की कोई तकलीफ नहीं होगी।

दवा देने के लिए नर्स वही आई। हँसकर बोली, "दवा नहीं है, शर्वत है। पीकर देखो।"

मैंने कहा, "शर्वत क्यों है?"

बोली, "सिस्टर स्वयं जो मीठी हैं।"

सुनकर मैंने गिलास लिया और दवा मुँह में डाल ली। इस बार वह सचमुच मीठी थी। मैंने कहा, "क्या मजाक है? मुझे दवा दी जा रही है या बहकाया जा रहा है? कृपया डाक्टर से कहिए, मैं बच्चा नहीं हूँ।"

नर्स का चेहरा सुनकर बेरंग हो गया, बोली, "लेकिन यह दवा ही है—नई दवा है।"

मैंने कहा, "दवा को कड़वा होना चाहिए। मेरी दवा को तो जहर होना चाहिए। मैं फौजी हूँ, सिविलियन नहीं हूँ। आप लोग···इस तरह की दवा मैं कभी नहीं पीऊँगा।"

नर्स हैरत में होकर मुझे देख उठी थी। उसके चेहरे को देखकर मुझे अपना रोष अत्यन्त व्यर्थ मालूम हुआ और मैंने कहा, "मुझे खेद है, नर्स। मेरी बात ख्याल में न लाना। तुम तो इस वार्ड की रौनक हो। तुमसे मैं नाराज कैसे हो सकता हूँ?"

मुझे मुस्कराता हुआ देखकर क्षण-भर में वह आश्वस्त हो आई और बोली, "आपने तो मुझे डरा दिया। सिस्टर को भेजूँ?"

"हाँ, कृपया भेजो।"

थोड़ी देर में सिस्टर आ गई। अब मुझे मालूम हुआ कि गुस्सा मुझे क्यों था। गुस्सा सिस्टर पर था। वह इसलिए था कि सिस्टर क्यों इतनी शान्त, मृदुल और सहानुभूतिशील है। मैं यह सब बिलकुल पसन्द नहीं करता। आदमी को मैंने अनावृत देखा है। भीतर हर कोई नंगा है, ऊपर कपड़ों का परदा है। अन्दर से वह स्वार्थी है, विषयी है और हिंसक है। संस्कारिता ऊपरी है, भीतरी तत्त्व पशुता है। इसीलिए मानो सिस्टर मुझे धोखा दे रही है, ऐसा कुछ मुझे उस पर गुस्सा आ रहा था।

उसके आते ही मैंने कहा, "मैं हिन्दुस्तानी हूँ, तो क्या मेरे साथ मजाक किया जायगा? अब से नई दवा मैं हरगिज नहीं लूँगा। मैं दवा के लिए नहीं हूँ!"

सिस्टर ने क्षणभर मेरी ओर देखकर नर्स से पूछा, "क्या है?"

नर्स ने घबराकर कहा, "मैंने तो वही दवा दी थी!"

सिस्टर ने मुझ से पूछा, "दवा में खराबी थी?"

मैंने जोर से कहा, "हाँ, वह दवा नहीं थी। नर्स पर बात को न टालिए, सिस्टर। दवा कड़वी न हो तो मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसका मतलब जानती हैं आप, क्या है? मतलब है कि आपको मुझपर करुणा है। अब कृपया सुनिए। मुझ पर करुणा मेरा अपमान है।"

सिस्टर उस पर शान्त भाव से मुस्करा आई। बोली, "ओ, यह बात है! नर्स, तुम जा सकती हो। सब ठीक है।"

फिर मुझसे कहा, "योग-शक्ति कड़वे को बर्दाश्त कर सकती है, मीठे को नहीं! तब तो वह शक्ति कमज़ोर है।"

कहकर मेरे हाथ उठाकर नाखूनों को देखा और कल की ही भाँति पपोटों को भी देखा। कहा, "दवा नहीं, टानिक है। घाव के

लिए अब पीने की ज़रूरत नहीं है । अब तो हमें कमज़ोरी का ही ख्याल रखना होगा ।"

मैंने रोष में कहा, "योग-शक्ति को आप नहीं मानतीं ?"

उसी मधुरता से बोली, "मानती हूँ, पर गुस्से में तो उसका प्रकाश नहीं है ?"

मेरी क्या गति थी। कल सिस्टर के जाने के बाद मैं दिन भर सोचता रहा था कि वह आयगी तो मैं कहूँगा कि सिस्टर मुझे ज़ख्म में दर्द मालूम होता है । बहुत मालूम होता है, तुम जाओ नहीं, बैठ जाओ। सोचता था—नाम पूछूँगा, परिचय जानूँगा, परिचय दूँगा । पर सिस्टर सचमुच अब आई है तो बेबात उस पर क्रोध कर रहा हूँ। मैंने कहा, "दृढ़ता को आप गुस्सा कहती हैं ? आपको कुछ अधिक जानना चाहिए !"

सिस्टर सुनकर लज्जित हो आई। बोली, "आप मुझ से नाराज़ हैं ? हमारे दोष बहुत हैं, पर नाराज़ी से क्या दोष दूर होंगे ?"

मैंने कहा, "लेकिन मैं ठीक हूँ । मुझ पर सदय होने का कोई कारण नहीं है ।"

सिस्टर ने हँसकर कहा, "लेकिन मुझ पर आप सदय हों, इसका तो कारण है ! आप से योग-विद्या मैं लूँगी। पर अभी तो आप और मैं दोनों कमज़ोर हैं । योग-विद्या काम की चीज़ है, फिर काम आयगी । पर अपने को आप कसकर क्यों रखते हैं ? खुला छोड़ दीजिए अस्पताल और विदेश इसे मत मानिए। दर्द में अस्वाभाविक क्या है ? हाँ, ग़ैर के सामने दुख दिखाना ग़लत है। लेकिन मैं ग़ैर नहीं हूँ। तुमने तो मेरा परिचय भी नहीं पूछा। मेरा नाम बीऽट्रिस है ।"

"दाँते की बीऽट्रिस ?"

मृदु मुस्कराहट से बोली, "उधर एक स्पेशल वार्ड आज खाली हो रहा है। यह पास ही है। वहाँ जाना नापसन्द तो नहीं होगा ?"

मैंने विस्मय से पूछा, "क्यों ?"

हँसकर बोली, "क्योंकि जहाँ तक मैं समझती हूँ, उसमें नापसन्दगी की कोई बात नहीं है।"

मैंने उस पर आँख गड़ाकर कहा, "लेकिन क्यों ?"

बोली, "व्यवस्था ऐसी ही हुई है !"

हाल के एक ओर सिस्टर का कमरा है। वार्ड की देख-भाल उन पर है। सामने एक कमरा दवा के लिए है, दूसरा सामान के लिए और तीसरा मुलाक़ातियों के लिए है। उसके मुक़ाबिले सिस्टर के कमरे से लगे हुए दो स्पेशल वार्ड के कमरे हैं। उन सबमें आपस में रास्ता है। ये कमरे ज्यादातर ऊँचे लोगों के काम आते हैं। सब की इच्छा वहाँ जाने की रहती है। इसीलिए मैं अचरज में पड़कर बार-बार बीऽट्रिस से क्यों-क्यों पूछता रहा।

मैंने कहा, "मैं यहाँ से जाना नहीं चाहता। यहाँ सब तो ठीक है।"

बीऽट्रिस ने कहा, "मैं अस्पताल की मालिक नहीं हूँ। जो व्यवस्था हुई है, मैंने कह दी, यहाँ की व्यवस्था में भंग नहीं पड़ा करता है। और मैं इसमें लाचार हूँ।"

परिणाम यह हुआ कि तीसरे पहर मैं स्पेशल वार्ड में आगया। वह एक बेड का स्वतन्त्र कमरा था। और दोनों ओर दरवाज़ों से बराबर के कमरों से जुड़ा हुआ था। बाईं ओर बीऽट्रिस का दफ्तर था।

मैं उस समय अपने को नहीं जानता था। मुझ में गुस्सा भी था और बहुत नीचे उस गुस्से की जड़ें ढीली भी हो रही थीं।

अर्थात् वह आदत का, प्रतिक्रिया का रोष था, जो जल्दी-से-जल्दी निकलकर अपने को चुका डालना चाहता था। अन्यथा दूसरी तरह मैं अपने व्यवहार की व्याख्या नहीं कर सकता।

इस कमरे में आकर डाक्टरों की निगाह में मैं कुछ दूसरा ही मरीज़ हो गया था। झींकता और चिल्लाता भी था। ड्रैसिंग के वक्त ज़रा-ज़रा दर्द पर आवाज़ करता और हाथ बढ़ाकर डाक्टर या नर्स के हाथ को झटका देकर अलग कर देने की कोशिश तक भी कर बैठता था। ड्रैसिंग के वक्त इसलिए दो-तीन आदमी मेरे हाथ-पाँव पकड़ने को ज़रूरी हो गये थे। यह तब, जब कि ज़ख्म काफ़ी भर आया था और अन्दाज़ था कि पन्द्रह-बीस रोज़ में स्वस्थ होकर अस्पताल से चला जा सकूँगा।

ख़ासकर सिस्टर से मेरी नहीं बनती थी। एक बार तो उसके हाथ से छीनकर खुला थर्मामीटर मैंने फर्श पर फेंक पटका। वह टूटकर चूर-चूर हो गया। सिस्टर जब आती, उसके साथ मेरी बक-झक हो जाती। दफ़्तर जो उसका बराबर था इससे नर्स कम और सिस्टर ही अधिक आया करती थी। दवा तक अधिकाँश वही पिलाती थी। निर्णयों में मैं कभी किसी तरह का फेर नहीं ला पाता था। मीठा टानिक मिला। इस कमरे में आ गया और उसके बाद मुझ से बिना पूछे निर्णय किये गए, मेरे सब विरोध के बावजूद उनका पूरी तरह पालन हुआ। मुझे झींक इस बात की थी कि उन सब निर्णयों में मेरी सुविधा और आराम का ही विचार प्रधान था। यह बात मुझे एकदम असह्य हो जाती थी। यह और भी असह्य था कि मैं क्रोध करता हूँ और बीऽट्रिस एक का भी उत्तर नहीं देती। उसकी आवाज़ ज़रा भी ऊँची नहीं होती, उलटे मेरे आराम के नए-नए ढङ्ग रचती रहती है।

मेरी जिन्दगी और ही आदर्श पर गढ़ी थी। मैं अपने में पूर्ण वृत्त की भाँति रहता आया था। आत्म-निर्भर था और किसी को अपने ऊपर, जिन्दगी के साथ शामिल न होने देता था। पत्नी भी अलग थी, बच्चे भी अलग थे। दुनिया के सब लोग अलग थे और असंख्य पुरुषों के इस जगत् में मैं अकेला था। अकेले रहने का आदी हो गया था। इस आदत और विश्वास के बल पर मेरी उन्नति की गति तीव्र होती चली गई। मामूली हवलदार से शुरू होकर तब ४२ वर्ष की अवस्था में मैं मेजर था। मेजर ही न था, लोगों की निगाहों में मैं उससे भी महत्त्वपूर्ण था। समझा जाता था कि मेरी तरक्की का कोई अन्त नहीं है। और मैं जहाँ तक न पहुँचूँ, थोड़ा है, ऐसी साथियों की मेरे सम्बन्ध में धारणा थी।

लेकिन अस्पताल के अन्तिम दिनों में लोगों की आशाएँ मुझ से टूटने लगीं। मैं अन्दर से कमज़ोर दीख आया। मामूली रोगी की तरह रोता, झींकता, जिद करता, हाथ-पैर पटकता, उन्होंने मुझे देखा और देखा कि अपने पर मेरा काबू प्रकृत नहीं है।

अचरज यह कि मेरी स्वयं की सम्मति अपने बारे में गिरती जाती थी। दूसरे मुझे क्या समझते हैं—यह बात पहले मुझे इतना परेशान न करती थी। मैं अत्यन्त विश्वस्त था और लोगों को मुझे ऊँचा ही समझना पड़ता था। अब अपने सम्बन्ध में मेरी निगाह औरों के साथ चलने को लाचार हो रही थी। इस सबसे मुझे झुँझलाहट थी, और वह बीऽट्रिस को लेकर प्रकट होती थी।

बीऽट्रिस ने कहा, "आपका जख्म तेज़ी से भर रहा है। बाहर आपके लिए तीन साल की आराम की छुट्टी का हुक्म आ गया है। इस खबर पर ज़रूर आपको मुझे 'थैंक्यू' कहना चाहिए।"

मैंने कहा, "थैंक्यू।"

"आज से आप पैरों से टहल भी सकते हैं। कुर्सी से आपको नफ़रत थी ही। अब—"

मैंने कहा, "दवा मैंने पी ली। कुछ और बाक़ी है ?"

कुर्सी खींची और उस पर बैठती हुई वह बोली, "हाँ, बहुत बाक़ी है।...तुम इतने चिढ़े क्यों हो ?"

मैंने कहा, "यही बात है, तो होगी। मुझे रहने दो।"

कुर्सी और पास सरका कर हाथ बढ़ाकर मेरे माथे पर रखा। कहा, "बहुत थक गए हो ?"

मैंने उलटी तरफ़ करवट ले ली और कुछ नहीं बोला। आज मुझे अचरज है कि तब रूठे बालक की तरह व्यवहार करने में मुझे क्यों लज्जा नहीं हुई।

करवट मैं पूरी तरह नहीं ले सकता था, लेकिन करवट के लिए तो मुझे करवट लेनी न थी।

"ज़िन्दगी से ही थक गए हो ! पर अभी तो तुम्हें बहुत करना है। युग-युग रहना है। सुनो, इधर देखो—"

माता बालक को किस भाँति मनाती है, यह बचपन में अनुभव में आया होगा। लेकिन इस समय वह माता ही मालूम हुई। इसकी उम्र मुश्किल से तीस वर्ष होगी। पर फिर भी स्वर में क्या बात कहाँ से आ गई कि मेरा अभिमान भीतर से व्यर्थ होता हुआ गलने लगा, यह कह नहीं सकता। अपने को छीलने की आदत मुझे बिलकुल न थी। स्त्रियों को काबू में ही करता आया हूँ। लेकिन इधर आकर मैं एक विलक्षण विवशता अनुभव कर रहा था, और विवशता में सुख।

"देखो, इधर देखो, रघु !"

मैंने स्पष्ट रूठी आवाज़ में कहा, "हटो, रहने दो।"

इस पर उसने दूसरा हाथ बढ़ाया। और दोनों के बीच मेरी कनपटियों को थामकर सीधा कर दिया। बड़े मृदु भाव से कहा, "गोरी हूँ, इससे मुझ से नफ़रत करते हो ?"

मैंने कहना चाहा कि 'हाँ' लेकिन कुछ कहा नहीं, अपनी आँखों के सामने टँगे चार्ट पर निगाह जमाये रहा।

उसने हाथ खींच लिये और बोली, "नफ़रत अच्छी चीज़ नहीं है, रघु ! उससे दिल सख्त होता है। वह भीतर से हमें खाती है। दुनिया में बहुत नफ़रत है, और लड़ाई है। हम-तुममें लड़ाई है। मैं अंग्रेज़ हूँ, तुम हिन्दुस्तानी हो। दोनों यह बात याद रखते हैं। और नफ़रत में जीना चाहते हैं। पर हमारे ही अन्दर का मन उस नफ़रत को नहीं चाहता। उस अपनी अन्दर की सचाई को हम दबाते हैं, और नफ़रत सीखना चाहते हैं। तुम, रघु, ऐसी ही कोशिश कर रहे हो। पर तुम मुझे नफ़रत नहीं कर सकते। करना चाहते हो, पर नहीं कर सकते। मैं बीऽट्रिस हूँ, तुम रघु हो। हर घड़ी बार-बार अपने को हम कितना भी याद दिलाएँ कि तुम हिन्दुस्तानी या मैं अंग्रेज़ हूँ तो भी अन्दर की यह बात ऊपर आ ही जायगी कि हम दोनों ही इन्सान हैं—तुम रघु हो मैं बीऽट्रिस—यह क्या, रोते हो ?"

मैंने बीऽट्रिस की तरफ़ नहीं देखा। आँसू भी नहीं पोंछे। मैं सामने ही बिना इधर-उधर देखे टकटकी बाँध चार्ट को देखता रहा। आँसू थे, फिर भी मानो मैं बहना नहीं चाह रहा था।

"छिः, रोने की क्या बात है ? पर रोना अच्छा है, रघु ! मुझे बहुत रोना पड़ा है। उससे बड़ा लाभ हुआ है। उसमें मेरा सब मान गलकर बह गया है।—तुम्हें मैं अपना परिचय देना चाहती थी। तुम झिड़कते रहे, टालते रहे। पर मैं भी दुखिया हूँ, रघु !

लोग समझते हैं, लार्ड की बेटी हूँ, पर अकेली हूँ, अकेली थी, सब थे, पर कोई न था। मैं अपने दर्प में बन्द थी। फिर क्या हुआ, सुनोगे ?"

इस समय अनजाने मेरा हाथ टटोलता-टटोलता बीऽट्रिस के हाथ तक जा पहुँचा था। मेरी उँगलियों के सिरे उसकी उँगलियों को छूते हुए वहाँ रखे थे। अब मैंने उस हाथ को खींचकर अपनी आँखों पर लिया। उसी से आँसू पोंछे और फिर इस हाथ को अपने दोनों हाथों से थामकर तनिक उसकी ओर करवट लेकर कहा, "सुनूँगा बीऽट्रिस, सुनाओ !"

बीऽट्रिस करुण मुस्कराहट से मेरी ओर देखकर बोली, "उसे जाने दो—पर एक वर्ष से इस अस्पताल में आ गई हूँ, और अब मैं अकेली नहीं हूँ। अपने यीशु को साथ ले लिया है। तुम जानते ही हो कि इकलेपन का त्रास आदमी को कितना प्यारा हो जाता है। अस्पताल से पहले मैं एक मठ में थी। अपना दुःख लेकर सोचती थी कि भगवान् के भजन में रहूँगी, बाहर का कोई सम्पर्क नहीं रखूँगी। मठ में एक कोठरी में पूरे एक साल बन्द रही। हर पल भगवान् का ध्यान रखती थी। पर मेरा इकलापन मुझसे नहीं गया, रघु, मेरी पवित्रता की ख्याति हुई, पर ख्याति ने मुझे और इकला कर दिया। तब मठ छोड़कर मैंने नर्स का काम सीखा। लार्ड की लड़की उस पवित्रात्मा बीऽट्रिस को छुट्टी देकर नर्स बनकर मैं रोगियों की सेवा में आ गई। तब से रघु मैं अकेली नहीं हूँ। सब मेरे हैं। रघु, अभिमान में हम अकेले हैं। आँसू से अभिमान कटता है। अरे लो, तुम फिर रो रहे हो !"

मेरी आँखों में फिर आँसू डबडबा आए थे। अपने हाथों में

पड़े, उसके हाथों को खींचकर मैंने अपनी कनपटी के नीचे रख लिया और धीमे से कहा, "बीऽट्रिस !"

हाथ खींचने में वह कुर्सी से काफी अधिक झुक आई, बोली, "यह क्या करते हो ?—तुम कमजोर हो !"

सुनकर मैंने दूसरे हाथ को पकड़ने के लिए अपनी बाँह बढ़ाई। बीऽट्रिस हँसती-सी बोली, "यह क्या पागलपन है, रघु ?"

मैंने मुँह से कुछ नहीं कहा। आँख के मेरे आँसू सूख गए। मैंने ज़रा आगे को सरककर अपनी बाँह को आगे को और बढ़ाया—

"यह क्या कर रहे हो, रघु ? पता नहीं ऐसे तुम्हें सरकना नहीं चाहिए। तो लो, मैं यहीं बैठ जाती हूँ।"

सिरहाने बैठी हुई बीऽट्रिस का दूसरा हाथ मैं खींचकर मुँह तक लाया। और हलके से चूम लिया।

बीऽट्रिस शान्त मुस्कराहट से बोली, "रघु, पागल हो रहे हो ! मुझे अब जाने दो।"

वह दिन रोज़-रोज़ नज़दीक आ रहा था। मेरी कुछ समझ न आता था। जैसे होनहार स्वयं हमारे ही द्वारा ऐसे अचूक और अनायास भाव से होता रहता है कि हम स्वयं ही उसके साधन होते और स्वयं ही अपने को विवश अनुभव करते हैं। मैं जानता था कि मैं हिन्दुस्तान जा रहा हूँ। और यह भी जानता था कि न जाऊँ तो मुझे वहाँ कोई भेजने वाला नहीं है। फिर भी जैसे मैं अपनी इच्छा या वश से नहीं जा रहा था। जैसे मेरी जगह कोई और 'मैं' जा रहा हो। मैंने कहा, "बीऽट्रिस"। और आगे मुझ से कहा नहीं गया। इस वक्त अपने कमरे में आराम-कुर्सी पर लेटा था और वह बराबर स्टूल पर बैठी थी।

बोली, "कितने वर्षों में घर लौट रहे हो ? बड़े खुश होगे ? और मुझे भी बड़ी खुशी है।"

मैं सिगार पीता रहा और कुछ नहीं बोला।

बीऽट्रिस हँसकर बोली, "अब आगे अंग्रेजों की नौकरी न करना। न उनसे नफ़रत करना।"

मैं अपने ही ख्याल में था। ऐसे चुप रहते शायद मुझे देर हो गई। बीऽट्रिस ने कहा, "क्या सोच रहे हो ?"

मैंने उधर मुड़कर देखा। कहा, "बीऽट्रिस, तुमने मुझे क्यों अच्छा किया ?"

बीऽट्रिस क्षीण मुस्कराहट से मुझे देखती रही। मैं अपने ही ज़ोर में कहता गया, "मुझ से यह दुश्मनी तुमने क्यों की ? और क्या मैं अच्छा हूँ ? अच्छा कहकर तुम मुझे छोड़ना क्यों चाहती हो, बीऽट्रिस ?"

बीऽट्रिस ने कहा, "तुम्हारा घर हिन्दुस्तान है। मुझे खुशी है कि अब तुम घर जाने लायक हो। अब पागल मत बनो।"

मैंने स्टूल पर बैठी-बैठी ही का हाथ पकड़कर अपनी तरफ खींच लिया। वह आकर मेरी गोद में गिरते-गिरते बची।

मैं स्वयं उस हाथ का चुम्बन लेकर सहम गया। मैंने तत्काल हाथ छोड़ दिया। मेरी आँखें निराश थीं और उनमें प्रार्थना शेष थी।

बीऽट्रिस खड़ी होगई। मेरी ओर देखकर जैसे उसमें करुणा का ज्वार आ गया। जल्दी से बोली, "देखो न, कितने कमजोर हो गये हो ! उत्तेजना ऐसे समय नुक्सान पहुँचायेगी।"

मैंने अवश भाव से कहा, "बीऽट्रिस !"

तब उसने झुककर, हँसकर धीमे से मेरा हाथ दबाया ! कहा, "फिर आऊँगी" और चली गई।

इसके बाद से मेरी हालत कुछ और ही हो गई थी। मुझे सहिष्णुता की, धैर्य की, संयम की आवश्यकता ही न थी। एक प्रकार के दुःखमय सुख से मैं भरा रहता था। दुख उसका मैं ही जानता था, सुख उसका मेरे चेहरे पर से सब को प्राप्त होता था। ड्रैसिंग के समय या और समय नर्स-डाक्टरों के समक्ष न संयत चुप रहता था, न दर्द की शिकायत करता था। बल्कि हँस-खुलकर बात कर सकता था और दर्द होता था, तब भी हँसकर ही दर्द का उन्हें उलाहना देता था।

वह अनुभव मेरे जीवन में विलक्षण है। बीऽट्रिस अब सवेरे एक बार ही मेरे पास आती। कहती कि तुम तो अच्छे हो रहे हो। अब मुझे सवेरे आने की भी जरूरत नहीं है। मैं चुपचाप उसे देखता हुआ पड़ा रहता था। लेकिन वह भेंट मेरे लिये इतनी काफी थी कि ऐसा लगता कि मैं कुछ और नहीं चाहता और अगले सवेरे तक मैं प्रसन्न और शान्त रहता।

अब अस्पताल से छुट्टी मिलने में दो दिन रह गये थे। हिन्दुस्तान जाने का मेरा प्रबन्ध हो गया था। एक हफ्ते अस्पताल से निकल कर मुझे बाहर रहना था, फिर जहाज से रवाना हो जाना था।

बोली, "यह क्या है, रघु?"

मैं उस समय एक साथ साहसी और कातर बन आया। बिना हाथ छोड़े कहा, "तुम यहाँ मेरे पास कुर्सी की बाँह पर आ बैठो!"

वह वहाँ बैठ गई। बोली, "क्या है, रघु? तुम अशान्त क्यों हो रहे हो? मैं बैठी तो हूँ?"

उस समय शब्द बेकार हो गये। और मैं उसका हाथ अपने हाथों में लिये बिना बोले बीऽट्रिस को देखने लगा। उसकी आँखों में तिरस्कार नहीं, धिक्कार नहीं, एक स्निग्ध करुणा थी। क्षणभर इस तरह देखते रहकर मैंने झटके से उसे अपने ऊपर गिरा लिया।

वह बोली, "हूं, हूं, तुम अभी कमजोर हो।"

मैंने कहा, "बीऽट्रिस !"

वह अपने को अलग करके खड़ी हो चुकी थी।

बोली, "रघु, तुम बच्चे हो ! ख्याल करो कि तुम कितने कमजोर हो !" कहकर जाने लगी।

मैंने कहा, "मुझे माफ करना, बीऽट्रिस !"

चलती-चलती बोली, "क्यों रघु, नाराज हो गये ?"

मैंने कहा, "नहीं, मेरी धृष्टता को भूल जाना।"

उस समय बीऽट्रिस ने इस दृष्टि से मुझे देखा कि मैं जन्म-जन्म तक बिसार नहीं सकता। उसी के कारण कह रहा हूँ कि उस की-सी पवित्रात्मा दूसरी होगी, इसका मुझे विश्वास नहीं है।

क्या उसकी आँखों में आँसू थे ? पर वह मुस्करा रही थी। उस चेहरे पर अपार करुणा थी। बोली, "रघु, अभी कितने कमजोर हो, अधीर न होओ।"

मैं फिर दो दिन तक शान्तभाव से अपने कमरे में रहा। सब से हँसता-बोलता था। बीऽट्रिस दोनों दिन मेरे पास नहीं आई। अब मैं स्वतन्त्र था। वार्ड में घूम-फिर सकता था। और दवा का क्रम जारी था, पर विशेष पाबन्दी न थी। सिस्टर बीऽट्रिस का दरवाजा अब दूसरी तरफ से बन्द ही रहता था।

अगले सवेरे मुझे जाना था। शाम के वक्त बगीचे में मैं

घूम-फिर आया। अब आराम-कुर्सी पर लेटा कुछ पढ़ रहा था। उसी समय बीऽट्रिस आई।

मैंने कहा, "बीऽट्रिस, अब तुम आई? आखिर क्यों आई?"

"रघु, तुम नाराज हो? सबेरे तो जा रहे हो, नाराजी में जाओगे? मेरी अंग्रेज जाति से तुम नाराज होकर न जाने पाओगे, रघु, इसके लिए समय निकालकर मैं आ रही हूँ।"

मैंने कहा, "समय निकालकर? अत्यन्त धन्यवाद।"

"लेकिन रघु, तुम तो अच्छे हो। मेरा समय रोगियों का है। मेरा वह अपना तक भी तो नहीं है। तुम मुझे माफ नहीं कर सकोगे?"

मैंने कहा, "कल सबेरे तक न आतीं तो कुछ बुराई न थी, बीऽट्रिस! मैं अच्छा तो हो ही गया हूँ।"

बोली, "रघु, तुम कठिन हो। अपने साथ अन्याय न करो। तुम कठिन नहीं हो, नहीं होना चाहिए—मैं आ तो गई हूँ।"

मैंने हँसकर कहा, "मैं अच्छा हूँ, तुमने मुझे अच्छा किया है!...कौन कहता है कि मैं अच्छा हूँ? तुम भूल में हो, बीऽट्रिस। जख्म लेकर जरूर मैं बीमार नहीं हूँ। पर अब तो ऐसी हालत है कि अस्पताल में भी मुझे जगह नहीं है।"

वह कुर्सी की बाँह पर आकर बैठ गई। किताब मेरे हाथ से लेकर बन्द करके उसने एक ओर रख दी। कहा, "क्या बकते हो! किताब ने दिमाग तो खराब नहीं कर दिया? चलो, उठो।"

उठकर वह मुझे बाहर की ओर ले चली। मैंने कहा, "कहाँ चल रही हो?"

बोली, "इतनी सरदी नहीं है, अभी खुले में घूम सकते हो!"

मैंने कहा, "बीऽट्रिस एक बात मानोगी? सिनेमा चल सकोगी?"

अचरज में भरकर वह एकाएक बोली, "सिनेमा!"

मैंने कहा, "मैं कल जा रहा हूँ, बीऽट्रिस! और हमेशा से ज्यादा बीमार हूँ। अच्छा हूँ, इसी आधार पर तुम मुझे छोड़ सकती थीं। बीमार को कैसे छोड़ सकती हो?"

बोली, "सिनेमा! लेकिन अस्पताल के मरीज तो रात को कोई बाहर नहीं जा सकते? और मैं तो सिनेमा जाती नहीं!"

मैंने कहा, "तो जाने दो, बीऽट्रिस।"

कहकर मैंने अपनी निराशा को अन्दर ही पी लिया, और चुप रहा। कुछ अनन्तर आप ही वह बोली, "लौटते समय यहाँ का फाटक जो बन्द हो जायगा।"

"कहता तो हूँ, बीऽट्रिस, जाने दो।"

"बोली, "हाँ, जाने दो। मेरी भी रुचि नहीं है।"

उसके बाद मैं कुछ नहीं बोला। नीचे लान में आकर हम टहलते रहे। तब से एक शब्द मैंने मुँह से नहीं निकाला। वह भी चुप रही। उसने मेरा हाथ अपने हाथ में ले रखा था। मेरे हाथ की उँगलियाँ निर्जीव-सी वहाँ लटकी हुई थीं। इस तरह चुपचाप दसेक-मिनट हम घूमते रहे। एकाएक वह बोली, "सिनेमा जरूर देखना चाहते हो? कल तो बाहर होगे। चाहे जितना देख लेना।"

मैंने कहा, "बीऽट्रिस, छोड़ो सिनेमा, छोड़ो मुझे। जाकर सो जाओ।"

कुछ देर मेरा उत्तर लेकर जैसे वह सोचती रही—

"तो आओ, मेरे साथ आओ,!"

अपने क्वार्टर में मुझे वह ले गई। सेविका को वार्ड में एक

चिट दे आने को कहा। फिर अपने घर पर ही उसने मुझे भोजन कराया। टेलीफोन से सीट और रात के लिए वहीं बेड्स का तय किया और अपने क्वार्टर के पिछवाड़े के रास्ते से हम लोग सिनेमा चले गए।

सवेरे मैं अस्पताल चला गया। वहीं से छुट्टी पाकर होटल में डेरा डाला। जहाज चलने में सात दिन थे। चौथे रोज से पहले बीऽट्रिस होटल के कमरे में न आ सकी। बोली, "रघु, तुम पागल हो। ऐसी चिट्ठियाँ भेजते हैं? और दिन में कई? लो, मैं आ गई!"

मैंने कहा, "इतने दिन कहाँ लगाये, बीऽट्रिस?"

बोली, "अब भी कुछ ही मिनट ठहर सकूँगी, रघु!"

मैंने उसके दायें हाथ को दोनों हाथों में दबा लिया। वह कुर्सी के बराबर खड़ी थी। मैंने कहा, "बीऽट्रिस, मेरा अब क्या होगा? तुम साथ नहीं दे सकोगी?...बीऽट्रिस, बीऽट्रिस, हम चर्च में नहीं चल सकते?"

बीऽट्रिस बोली, "तुम बहुत इकले, बहुत दुखी हो, रघु! मैं जानती हूँ।"

"हाँ, बहुत दुखी हूँ, बीऽट्रिस!"

"मैं दुख की ही हूँ, रघु, शायद तुम्हें सुखी भी कर सकूँ। चाहती भी हूँ।"

मैंने उसे खींच कर पास बिठा लिया। कहा, "फिर क्या है, बीऽट्रिस? मेरा सब तुम्हारा है। धर्म से कहता हूँ, तुम्हीं मेरी सब हो।"

उसकी आँखों में उस समय मैंने परिपूर्ण प्रेम देखा। पर उस पर शान्ति थी व्यथा भी थी। बोली, "रघु मैं चल सकती तो

ज़रूर चलती। सोचो, मैंने क्या तुमसे बचाया ? तुम्हारा दुख पाना मेरे लिए छोटी प्राप्ति न थी। लेकिन रघु, समझो। तुम्हीं सोचो, अस्पताल में और जो मरीज़ हैं ?"

मैं सुनकर उनकी ओर देखता रह गया। यह स्त्री क्या कह रही है ? क्या उसका अर्थ है ? क्या वह ऐसी निर्लज्जता के साथ पुँश्चली है ? कह नहीं सकता कि उस समय कैसा कठोर भाव मुझ पर छा गया। सुनता हुआ मैं एक ही साथ जड़ीभूत हो गया।

अत्यन्त स्नेह-पूर्ण दृष्टि से मुझे देखती हुई वह बोली, "रघु, तुम ही सोचो, अस्पताल में और मरीज़ नहीं हैं ? और वह मेरी राह देखते होंगे।"

मैं सुनकर विमूढ़-सा बैठा रहा।

बोली, "अंग्रेज़ से तुम घृणा न करोगे, रघु ! यह मुझे कहते जाओ। अब मैं जाऊँगी, भगवान् तुम्हें सदा सुखी रखे।"

कहकर मेरा हाथ लेकर उसने चूमा, और कहा, "मुझे घृणा तो नहीं करते ?"

मैं गुम-सुम बैठा रहा। निश्छल भाव से हँसकर उसने कहा, "नहीं, तुम घृणा नहीं कर सकते, मैं जानती हूँ। कहो, किसी भी अंग्रेज़ से नफरत नहीं करोगे, रघु।"

मैं सुनता हुआ सब पीता गया। मुझ से और न सहा गया। उठकर कमरे का दरवाज़ा खोल कर उसे दिखाते हुए मैंने कहा, "सिस्टर बीऽट्रिस, अब तुम जा सकती हो।"

मेरा यह भाव देखकर सहसा उसकी आँखों में आँसू छल-छला आए, लेकिन मैंने ठंडे लहज़े से दोहराया, "यह रास्ता है, तुम अब जा सकती हो।"

वह क्षण-भर उभरी आँखों से ठिठकी-सी मुझे देखती रही।

मैंने कहा, "मुझे फिर दरवाजा बन्द करना है।"

इस पर बिना और कुछ कहे, वह चुप-चाप दरवाज़े के बाहर चली गई।

कहकर मेजर, जैसे किसी ने मुँह सी दिया हो, एकाएक निर्वाक् हो रहे। मानों उनमें सब गति तब निस्पन्द हो आई। अनन्तर मानो जाग कर खिन्न वाणी से बोले, "रायसाहब और डाक्टर साहब ! इसीलिए मैं कहता हूँ कि शरीर-सम्बन्ध कुछ नहीं है। मैं आपकी-सी धारणा में पला था। इसी से अपनी जिन्दगी का सब से बड़ा पाप मैंने यह किया कि उसका अपमान किया। लेकिन जिन सम्माननीयों को मैं जानता हूँ, उनमें किसी-से भी कम सम्माननीय वह नहीं है, यह निश्चय है।"

●

प्रतिभा

झटके के साथ रोल्स-रायस को रोका, कलाई पर बँधी घड़ी देखी। पीछे बैठे शोफर ने तपाक से आकर दरवाजा खोल दिया, और प्रतिभा उतरकर खट-खट सीढ़ी चढ़ मकान में दाखिल होने को हुई। शोफर से कहा, "हाँ ले जाओ। सबेरे आठ बजे ठीक।" सम्भ्रमपूर्वक इकट्ठे होगए दरबान और बैरा को हँसकर कहा, "सलाम-सलाम। यह जागने का वक्त है! खुदा के वास्ते आराम कीजिए। मेरा इन्तजार न देखा कीजिए। आप से कितना कह चुकी हूँ।" कमरे में आई। आईने में अपने को देखा। डेढ़ बज गया था। मेज़ पर खतों का ढेर था। उसने गुस्से से उस तरफ निगाह डालकर वापिस की और बालों पर हाथ फेरती कौच पर आ बैठी।

वह अभी कहाँ से आ रही थी? जो हो अपने से खुश मालूम होती थी। आई तो, तेज कदमों से चलती आई थी। खट्-खट्-खट् खट्। मन भी मानो चाल की इस खट्-खट् पर ताल देता आरहा था।

प्रतिभा जहाँ पहुँचती वहीं ध्यान और आकर्षण का केन्द्र बन रहती थी। वह इसकी आदी होती जाती थी। लोगों की प्रशंसा और स्त्रियों की ईर्ष्या उसे अनायास मिलती थी। मन पर मानो

अब उनसे कोई लहर भी न बनती हो। सोसायटी के बीच वह ऐसे तिरती थी जैसे जल पर नावें। मानो आश्वस्त और मानो मत्तका हो, और वह यह जानती हो।

ऐसे समय वह अतीव निर्मल होती थी। अपने मन और तपन की उसे तब सुध न रहती थी। जैसे वन-विहंगिनी हो सबके लिए मुस्कराहट, सबके लिए अभ्यर्थना। मानो उसमें कुछ कठिन न हो, कोई निषेध न हो! मानो वह हवा की है और आकाश की है और वैसे ही सबकी है।

लोगों की आँखें जाने उससे क्या चाहती थीं। उसे कुछ समझ में न आता था। न वह 'हाँ' जानती थी न 'ना' जानती थी। मानो वह स्वयं आनन्द के लिए है और उससे जो चाहे वह पा ले। दुनिया में नकार क्यों है? और वह क्यों हो? जो है वह सानन्द क्यों न हो?

किसी से उसकी अनबन न थी। किसी के प्रति वह दुर्लभ न थी। दिन बिताने के बाद रात में कब आकर वह सो जाती मानो पता न चलता था। और सबेरे उठने से लगाकर फिर उसकी मुस्कराहट का दान आरम्भ हो जाता था। क्योंकि उसके अर्थिजन कम न थे। दिन भर फूल की नाईं इस क्यारी और उस अटारी में वह खिलती फिरती और औरों के मन को प्रफुल्लित करती थी। इस प्रसन्नता के दान के काम में सबेरा कब शाम हो जाता, मानो इसका पता न रह पाता था। रात आने पर भी जल्दी उसको छुट्टी न मिलती थी। न वह छुट्टी चाहती ही थी। आज यह पार्टी तो कल वह जश्न। आधी रात बीते कहीं लौटना मिलता, तब वह आती और थोड़ी देर सिर को हाथों में थामे बैठी रहती और फिर तकिये पर गिर कर सो जाती।

सो तो जाती पर सपने क्या लेती, पता नहीं।

आईने में देखकर बालों को उँगली से पीछे करते हुए वह कौच पर आ बैठी। अनमने भाव से मेज़ के खतों के ढेर को देखकर निगाह लौटा ली, पर फिर सहसा उठकर गई और एक-एक खत को उठाकर उसका पता देखने लगी। देखती जाती और फेंकती जाती। एक भी खत उसने नहीं खोला। और सब अलग फेंक दिए।

मानो वह नाराज़ हो। खत से, अपने से, दुनिया से, सबसे नाराज़ हो। वापिस मुड़, जूते खोल, पैर ऊपर लेकर फिर कौच पर आ बैठी, शाल खींचकर टाँगों पर ले लिया, पर लेटी नहीं, और बैठी सामने कोने में जाने क्या देखती रही।

दो का समय होगा। जाग कहीं न थी। बाहर सब सोया था। स्तब्ध सन्नाटा था। ऊपर खिड़की की राह, रात के तारों से भरा आसमान का टुकड़ा दीख सकता था। बस उसके पास कमरे में बिजली की रोशनी अपना सफेद मुँह खोले जाग रही थी। वह रोशनी उसे बुरी मालूम हुई। मानो वह व्यंग हो, नग्नता हो, उघड़ाहट हो। अँधेरे आसमान के तले यह बिजली बेलाज होकर क्यों चमकती है? उसने उठकर स्विच बन्द कर दिया। घुप अँधेरा हो गया।

अब ठीक है। बिस्तर पर आकर वह बैठ गई। कुछ नहीं दीखता था। और वह कुछ नहीं देखना चाहती थी। अँधेरे में उसको सान्त्वना थी। उजाले में तरह-तरह के कपड़े चाहिए, बना-वट चाहिए। उजाले में सच कैसे जिये? सच वहाँ साँस ले नहीं सकता। उजाले में जाने को उसे आवरण चाहिए। अब अँधेरा है, यह ठीक है। अब सच सच हो सकता है, और मैं मैं।

एक-एक कर उसने अपने बदन के कपड़े उतारे, और दूर अलग

फर्श पर फेंक दिए। अब वह स्वयं होकर मानो ईश्वर के अँधेरे का अंग बन गई। इस भाँति वह अपने बिस्तर पर बैठी रही—बैठी रही।

ओह, वह क्या चाहती है? जाने वह क्या चाहती है! क्या अपने तन को नोंच फेंकना चाहती है! या गुलाब की पंखड़ियों के बीच उसी तन को लेकर सो रहना चाहती है! क्या उसका मन अशान्त है! या वह एक दम शान्त है। दिनभर की लहरें इस समय कहाँ हैं! आदमियों की आँखें और उन आँखों की वासनाएँ कहाँ हैं? वह चेहरे कहाँ हैं जो घिनौने हैं फिर भी हँसते हैं और जिनके सामने होकर हँसना ही होता है! वह नहीं हैं सो अँधेरा ही सच है। उसमें ही उसे ढारस है।

दिन के काम मानो खिलवाड़ थे। यह रात की गोद है। दिन मूँद सोया है। अब आसमान में तारे जागे हैं। तारे यानी देवता। माया पर अँधेरा छा गया है और बालक अभी प्रकृत माँ की गोद को देख सकते हैं।

प्रतिभा को मानो मन के अन्दर से कोई काट रहा है। कहाँ है तू! कहाँ है तेरा और कोई? कहाँ है दिन का सपना वह उजियाला! अरी, अब तो तू है और मैं हूँ। दुनिया तेरे और मेरे बीच एक होने को कहाँ है? फिर मुझसे ओट करने क्यों तू उस दुनिया को बीच में लेती है? पगली! मुझसे ओट?

और प्रतिभा बिस्तर पर चारों ओर से कस कर भरे हुए अँधियारे का अंग बनी निरावरण गुमसुम बैठी है कि जाने क्या सुन रही है, क्या चाह रही है। बैठे-बैठे उसने दोनों टाँगों को समेटकर पास में लिया। और उठे घुटनों पर दोनों हाथ रख उनकी हथेलियों में सिर टेक दिया।

ऐसे वह क्या सुनती और क्या सोचती थी ! अपने अन्दर से वह क्या पाना चाहती थी ! बहुत काल तक वह उस तरह बैठी रही, जैसे उसमें कुछ समाधान हो। अन्दर मन्थन-ही-मन्थन हो, और मन्थन हो।

सबेरा होगा। दिन उजला होकर मुँह दिखायगा। लोग चल-फिर करेंगे। संसार जगेगा। तब प्रतिभा का भी खिलवाड़ का चक्र आरम्भ हो जायगा। लोगों की आँखें ललचेंगी, और प्रतिभा सबको अपनी मुस्कराहट देगी।

ओ, हे, अन्धकार के परमेश्वर ! क्या यही होता रहेगा ? आए दिन यही होगा ? सब मेरी मुस्कराहट लेंगे, मेरा आनन्द लेंगे ? पर मेरा दुःख लेने वाला क्या कोई न होगा ! हे, मेरे ईश्वर ! तुम मुझको कब लोगे, बताओ।

तुम जो स्वयं आनन्द हो, और इसलिए दूसरे का दुःख ही लेना चाहते हो। नहीं कह सकते, प्रतिभा यही सोचती और यही चाहती थी। जाने उसमें क्या हो रहा था। जाने कब तक वह यों हथेली पर माथा झुकाए अपना बोझ घुटनों पर दिये बैठी रही, और कब जाकर वह सो सकी।

वह तो नहीं मालूम, पर यह तो हम-तुम सब किसी को मालूम है कि अगले दिन, उससे अगले दिन और उससे अगले दिन प्रतिभा सबेरे की ओस से नहाए गुलाब-सी गुलाबी, और ताजा गुलाब-सी अपनी चपल भाव-भंगिमा से इसको, उसको और सबको अकुण्ठित भाव से किस प्रकार मुस्कराहट का और प्रसन्नता का दान करती दीखा करेगी। यौवन है तब तक क्या उस अमर भावना का मुक्त हस्तदान कुछ भी कम हो सकेगा ? नहीं हो सकेगा ? नहीं हो सकेगा, और इस अभिशाप का ही वरदान के रूप में वह जगत् को प्रतिदान देती रहेगी।

दुर्घटना

मौसम सुहावना है और हरीश टहलता हुआ अपने घर जा रहा है। वह इस समय अपने से प्रसन्न है। छड़ी हाथ में घूम रही है और कदम कुछ तेज़ पड़ रहे हैं।

हरीश विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र का अध्यापक है। उसने अपने रहने का घर कालेज से ज़रा दूर लिया है कि आते-जाते कुछ पैदल चलना मिल जाय। उसकी राह में बस्ती ज्यादा नहीं पड़ती, खुला मैदान ही पड़ता है। इस समय वह खुली-फैली धरती घास से हरी-भरी है और कुछ भीगी है। ऊपर बादल हैं। हवा कम है। जितनी चाहिए सर्दी उससे अधिक नहीं है। और ऐसे समय उस खुले-मैदान के बीचों-बीच जाती हुई सड़क पर चलते हुए वह अपने-आपको अप्रिय नहीं लग रहा है, कुछ और ही उसे अप्रिय लग रहा है, कभी सड़क पर से मोटर भागती हुई निकल जाती है। इक्का-दुक्का आदमी भी दीखते हैं, मामूली तौर इन्सान उसे अच्छा नहीं लगता, और मोटर और भी वाहियात मालूम होती है। पर आज इस समय उसके निकट मानो कुछ अयुक्त नहीं है। मोटर भी ठीक है, उसका भागता रहना भी ठीक है और

दो टाँग से चलने वाला अहंकारी आदमी भी इस दुनिया में मानो एकदम ग़लत नही है।

बहुत-सी बात इस हरीश की समझ में नहीं आती। पहले तो उसे अपना मतलब ही नहीं समझ में आता। वह देखता है कि अपनी राज़ी से उसने जीना आरम्भ नहीं किया। जाने किस का भेजा हुआ वह इस दुनिया में है। ख़ैर, जब जीना अकारण शुरू हो गया, तब तो उसमें इस बात की समझ न थी, पर अब जब कि समझ-जैसी चीज़ भी उसमें हो चली है, वह जानना चाहता है कि वह क्यों जी रहा है। वह देखता है कि उसकी अपनी आस-पास की दुनिया में उसके अपने निजी जीवन के प्रति प्रीति भी है। कुछ उसके सगे हैं। कुछ सम्बन्धी हैं, मित्र हैं, जानकार हैं, हितैषी हैं। उसे विस्मय है कि ये सब क्यों हैं। दुनिया का कोई भी प्राणी, कोई भी काम क्यों चाहता है (क्यों उसे चाहना चाहिए) कि मैं जीऊँ। मैं उनके किस काम आता हूँ। पाँच सौ रुपये पाता हूँ और लड़कों को पढ़ा देता हूँ। मैं नहीं जानता कि यह भी कोई काम है। और नहीं मालूम क्यों इसके पाँच सौ रुपये मुझे मिलने और ले लेने चाहिये। मुझे जीवन की सुविधा क्यों इस सहज रीति से जुटा दी गई है। मुझे चारों ओर से यह लाचारी यह चाह, क्यों घेरे है कि मैं जीऊँ। कोई क्यों माँगता है कि मुझे जीना होगा। देखता हूँ कि लोग खड़े होकर कड़ी धूप में फावड़ा चलाते और पसीना बहाते हैं। वे जीने के लिये सचेष्ट हैं। मैं यह कुछ नहीं करता। जीवन में मुझे कोई अर्थ प्राप्त नहीं। फिर भी जीने का मुझे सुभीता है जब कि उस मेहनती को सिर टेकने को ठौर नहीं!...

इस तरह हरीश अपने सम्बन्ध में संदिग्ध बना जीये चलता

है। अर्थ के नाम पर कुछ उसकी पकड़ में नहीं आता: इसलिए कभी ठाठ से भी रह लेता है, कभी बेहाल हालत में भी दीखता है। उसे किसी में कुछ करणीय नहीं मालूम होता, यद्यपि करता सब कुछ है। उसे स्वाद नहीं है, यद्यपि चखने को सब उसको सुलभ है, और सब वह चखता भी है। बहुत सोचता है कि क्यों न एक रोज जी कसकर उसको लेने से इन्कार कर दे, जिसका उसके निकट कुछ अर्थ नहीं है, जिसकी उसे कुछ चाह नहीं है। कह दे कि, 'ओ जीवन-दाता, यह ले अपनी अमानत। तेरी जिन्दगी यह तुझे वापस। मैं नहीं जानता कि उसे लेकर मैं क्यों तेरा एहसान उठाऊँ, और वह भी सिर्फ इसलिए कि आखिर मरूँ।' सोचता सब है; पर होने में कुछ नहीं आता। यह नहीं कि साहस नहीं है; पर इतना तक भी वह क्यों करे, इस 'क्यों' और 'करूँ-करूँ' में ही जिन्दगी के बरस निकलते चले जाते हैं। फलतः वह कुछ अघाया, अन-मनाया सा रहता है।

सूक्ष्म और गहन विचारों का भोजन उसके लिये भोजन अब नहीं रहा। दर्शन उसे सूखा काठ मालूम होता है। काठ को चबाये जाओ, उसमें रस कहाँ है। उसमें रस तो तभी तक है, जब तक तुम्हारे जबड़े कच्चे हों और वह काठ चुभकर उनमें ही कहीं से लहू बहा दे सके। उस तुम्हारे अपने मुँह के लहू में ही से रस पा लो तो पा लो: नहीं तो सब वृथा है, पर है, झूठ है। इस सबसे वह भर उठा है। अब उन नितान्त ऐहिक, वैषयिक, निश्शील और श्लील-विहीन बातों के स्पर्श में अपने को डालकर कभी किंचित् चेतना-उत्तेजना वह अपने भीतर अनुभव करता है तो कर भी लेता है। स्त्री का और शराब का थोड़ा-बहुत आकर्षण अभी तक उसने अपने लिये हठात् बना रखा है। वह दार्शनिक होकर भी

किसी कदर दुष्ट बने रहने में सफल हो सका है, यही मानो उसे अपने से सन्तोष है। अन्यथा एक गम्भीर अवसाद उसे सदा डसे रहता है।

पर मैदान के बीच से जाती हुई सड़क पर से जरा तेज चाल से चले जाते हुए हरीश में अवसाद इस समय नहीं है। वह स्वयं अपने को अप्रीति-भाजन नहीं लग रहा है। ऊपर बादल गदराये हुए हैं। चारों ओर हल्की सर्दी और मेह की बयार है। मैदान हरियाली से उमगा है। सड़क चिकनी, साफ और निर्जन है। यह सब कुछ प्यारा-प्यारा सा लगता है। मानो विश्व नकार नहीं है और न शेष सब-कुछ केवल कोलाहल है। राग भी है; और विश्व इसी से सत्य है कि वह रागमय है।

उसके हाथ में छड़ी हिल रही है और उसे जान पड़ता है कि उसे कुछ भी सोचने की जरूरत नहीं है। सब सोच-विचार अभाव भरने को उपजता है। बाहर जब रीता, खोखला, हो पड़ता है, तब मन उसमें अपनी चाहें और मस्तक अपनी चिन्तनाएँ भरता है। पर हरीश इस समय भीतर से भरा आ रहा है और उसके लिए अब कुछ खाली कहाँ है ?

...कल प्रमीला ने आकर कहा था कि उसका नाम प्रमीला है। बरसों अपनी श्रद्धा थामे वह बैठी रही है। कल आकर बताया कि उसका नाम प्रमीला है; दो साल पहले तक वह भी प्रोफेसर थी; अब मात्र स्वयं और लेखिका है। बतलाया कि वह हरीश बाबू की आजन्म ऋणी है; क्योंकि उनके (अमुक) ग्रन्थ से उसे अभ्यन्तर में प्रकाश और प्रेम प्राप्त हुआ है। वह जाने कब से उनके दर्शन को उत्सुक थी और जानना चाहा कि आज जो उसने हरीश बाबू के समक्ष आ धमकने का साहस किया है, वह क्षम्य तो होगा न ?

पूछा, कि क्या उसे और भी जब-तब आने का सौभाग्य अपनाने की इजाजत होगी। क्या कहीं वह इस परम भाग्य की भी आशा कर सकती है कि हरीश बाबू उसके घर पधारने की कृपा करें। वह अपने पिता के घर रहती है। (अमुक) रोड पर कोठी का (यह) नम्बर है। अवश्य पधारें। प्रमीला का धन्य भाग्य होगा यदि हरीश बाबू इसे सम्भव बना सकेंगे। उसने यह भी बताया कि वह अविवाहिता है और विवाह को सर्वोच्च धर्म नहीं मानती। न वही एक मार्ग है। विवाह से ऊँची सार्थकता भी मानव-जीवन की वह देख पाती है। और अन्त में उसने पूछा था कि हरीश बाबू बतायें कि वह इसमें भ्रम में तो नहीं है।

जिस पर हरीश ने कह दिया था कि नहीं, भ्रम नहीं है...।

प्रमीला आशा से भरी बड़ी भली लगती थी, मानो आयु के उस सिरे तक वह ऐसी ही भरपूर पाल खोले पैरती-सी चली जायगी। सौम्य उल्लास उसके मुख पर था। हरीश ने देखा, यह प्रमीला जीवन को शून्य मानने की लाचारी में कभी नहीं गिरी। वह है, और इस होने के समर्थन अथवा सन्देह के लिए कोई 'क्यों' उसके भीतर नहीं है। वह प्रश्नपूर्वक नहीं, आशापूर्वक जीती है और ऐसे ही जियेगी। वह उत्सुक होना जानती है और जीवन के वैचित्र्य के प्रति उसमें उदासीनता नहीं है। वह बालक की नाईं हँस सकती है और जिज्ञासु हो सकती है। विस्मय उसमें भरा है और अबोध होकर वह असन्तुष्ट नहीं वरन् स्फूर्तिशील और चपल है।

जब गुरु के समक्ष निपट विद्यार्थिनी की भाँति जीवन के किसी अज्ञात महोद्देश्य को इङ्गित करके प्रमीला ने पूछा कि 'इसमें वह भ्रम में तो नहीं है न?' तब दायित्वयुक्त गुरु की भाँति ही हरीश ने कह दिया था कि 'नहीं, भ्रम नहीं है।' कह तो दिया

था, पर कह देकर प्रमीला के तल्लीन मुख पर आँख जमाकर मानो अपने भीतर वह टटोलने लगा था कि जीवन का वह महदुद्देश्य क्या है। वह कहीं है भी ? और इस टटोलने के समस्त प्रयास के उत्तर में मानो उसकी आँखों ने चोट दे-देकर उसको यही सूचना दी थी कि जो स्पृहणीय है वह इस नारी में ही है, उसके बाहर होकर शायद कहीं भी कुछ और नहीं है। वहाँ सौन्दर्य है, जीवन है, आशा है, आकांक्षा है। और विश्व में स्पृहा-योग्य क्या है ? साध्य इष्ट भी और क्या है ?...

पर इसी समय उसमें अपने प्रति विमनस्कता भी उठी। इस कमनीय रमणी द्वारा अपने प्रति दिये जाते हुए श्रद्धा के समर्पण में हरीश ने नहीं जाना कि उसे सुख मिला। मामूली तौर पर उसने कह टाला कि वह श्रीमती जी का परिचय पाकर कृतज्ञ है और कि वह कभी उनके यहाँ आने का अवसर पाकर सुखी होगा। पर वह अपने दुर्भाग्य को जानता है और उसे कहीं आने-जाने का समय कम मिलता है। उसने अपने को प्राप्य और प्रमीला को उत्साहित नहीं होने दिया। वह प्रमीला के प्रति अभ्यर्थना में भी शिथिल रहा और उसे विदा करते समय भी ठण्डा दीखा। पर भीतर-ही-भीतर उसने हठात् पाया कि अवसाद ही एक वस्तु नहीं है, आनन्द भी कुछ है, और मानो अपने विरुद्ध होकर भी वह जीवन के प्रति अधिक सकाम हुआ।

यह कल की बात है। पर आज भी वह साँवले बादलों के नीचे, मीठी बयार में मानो हिलोरें लेता हुआ, हरे मैदान के बीच में से जाती हुई जनशून्य सड़कपर से छड़ी घुमाता हुआ जरा तेज चाल से चला जा रहा है। मानो कहा चाहता है कि वह भी ताजा है। उसे अनुभव हो रहा है कि ओह, अभी तो वह चालीस बरस

का भी नहीं है। उसे प्रमीला में आसक्ति की तनिक भी सुध नहीं है। मात्र वह उसमें और अपने में प्रसन्न है। मानो मटमैले अलस अवसाद के पट पर चित्र-विचित्र रङ्गों के मेल में अकस्मात् फूट उठता हुआ उसने देखा है जीवन के फूल का एक चित्र। बस चित्र, जिसमें उसे अनुराग नहीं, मात्र हर्ष है। वह चित्र है, पदार्थ नहीं; प्रतिनिधि है, स्वयं नहीं। चित्र भी क्यों, मानो संयोग-घटित घटना-भर है, जो क्षण से अलग होकर नहीं जीती। प्रमीला नामक नारी से अपना तनिक भी सरोकार उसे नहीं सूझता। केवल उसके ध्यान को ही अपनी आँखों में ठहराये हरीश हलके कदम चला जा रहा है। उस ध्यानमूर्ति में उसे सतत अभिलाष का, एक हरियाली चाह का, जैसे जीवन के अर्थ का ही आभास आता है। वह जीवन का आशय, जीवन की साध, चाँद से चाँदनी की तरह वहाँ से फूटकर चहुँ ओर विकीर्ण होती हुई भी उसे जान पड़ती है...

सहसा पीछे से सड़क पर जोर से पड़ते हुए बूटों की आहट उसे मिली। देखा, पीछे से एक सज्जन चले आ रहे हैं। कदम उनके दृढ़ हैं और उनकी मुद्रा में शङ्का नहीं है। वह मुँह से सीटी बजाते चले आ रहे हैं। और दीखा कि उनके कभी इधर और कभी उधर होकर चलता हुआ एक कुत्ता है। बड़ा ही सुन्दर कुत्ता! उसके जाने टाँगें हैं या नहीं और पेट उसका धरती छूता मालूम होता है। देह उसकी क्या है, झबराले बाल-ही-बाल हैं। और वे ऐसे चिकने, मुलायम, गहरे काले और लच्छेदार हैं कि क्या कहिए!

"ओ प्यूटिन! प्यूटिन्!!...ओ रास्कल यू...शि-श्-श्।"

सज्जन ने कहा, सीटी दी, और हरीश ने देखा, वह रास्कल प्यूटिन् सूँघ-सूँघकर जहाँ-तहाँ की टोह लेने में ही प्रवृत्त है। सज्जन

के असज्जन-सम्बोधन उसने बड़ी आसानी से सुने-अनसुने कर दिये हैं। हरीश ने और भी देखा कि सज्जन भी इस पर किसी तरह की व्यस्तता प्रकट नहीं करते हैं; वह प्रेमपूर्वक कुछ और भी अप्रिय शब्द निकालते हुए और सीटी बजाते हुए मग्न-मुद्रा से बढ़ते चले जा रहे हैं। वह हरीश के पास तक बढ़ आये, नमस्कार किया। हरीश कुछ उत्तर दे कि उसने देखा, वह कुत्ता किसी पत्थर को एक ही साथ सूँघना छोड़कर भाग आया है और सज्जन के पैरों के बीच में उलझ कर उनके पतलून के किनारों को कुतरने पर उतारू हो गया है। सज्जन ने प्यार से लात फटकारते हुए कहा, "यू ब्लडी।"

हरीश ने सज्जन को पहचाना तो नहीं; पर प्रत्यभिवादन के साथ कुत्ते को देखकर उसने कहा, "हाउ प्रेटी ए थिंग!"

सज्जन सुनकर प्रसन्न गर्व से मुस्कराये और कुत्ता सुनकर जाने किस नई चीज़ को सूँघने की जल्दी में पतलून के किनारे को एक बार जोर से झटका देकर वहाँ से तीर की तरह झपट निकला, जिस पर सज्जन ने कहा, "द डेविल!"

हरीश की निगाह हठात् उस कुत्ते की स्वच्छन्द क्रीडाओं में उलझ गई। उसे जगत् के फीके दीखने का कोई अवकाश न रहा। उसे कुत्ते की अठखेलियाँ बड़ी अच्छी लग रही थीं। मानो जीवन की लीला ही सामने इठला रही हो। वह अनायास पुकार उठा 'प्यूटिन! प्यूटिन्!!' जिस पर सज्जन ने (जो कि अब उससे आगे बढ़ गये थे) उसकी ओर कृतज्ञ गर्व के भाव से देखा और मानो कुत्ते ने भी फख्र से अपने कान खड़े किये।

हरीश ने उत्साहित होकर और सीटी बजाकर कहा, "प्यूटिन! प्यूटिन्!!"

प्यूटिन् क्षणिक ठहरा। उसने देखा, जैसे सर्कस का सधा खिलाड़ी ही न हो। हरीश का जी प्रतीक्षा से और खुशी से भर आया। देखते-देखते प्यूटिन छलाँग भर कर उसी की तरफ़ को भाग छूटा। आया, आया !—पर एकदम बीच में रुककर वह तो फिर वापस भाग गया !

कुत्ते की इस शरारत पर हरीश मचल ही पड़ा। वह सब-कुछ भूल गया और आत्मीय भाव से कुत्ते के पीछे दौड़ा। कुत्ता चार टाँग रखकर आदमी के हाथ लगे ? इससे वह पास-ही-पास रहकर भी इनके हाथ नहीं आया।

उस समय अत्यन्त आनन्दित भाव से उन सज्जन ने बहुतेरे न सुनने योग्य विशेषण सुनाकर प्यूटिन् को बुलाया, उसे गोद में उठा लिया, ज़ोर-ज़ोर से प्यार के कई चपत उसकी कनपटी पर जमाये, कहा, "बदमाश, बदमाशी करता है ?"

प्यूटिन् ने आँखें मीचकर मानो उस गोद में और उन थप्पड़-गालियों में खूब रस लिया।

थोड़ी देर बाद उन सज्जन ने दोनों बाँहों में थाम कर प्यूटिन् को हरीश की ओर बढ़ा दिया। हरीश ने हाथ बढ़ा कर प्रेम से प्यूटिन् को ले लिया। लेकर देखना चाहने लगा कि इन मुलायम बालों के ढेर में आँख है, तो कहाँ है, और नाक भी है कि नहीं। किन्तु प्यूटिन् तो कुलबुलाकर इनकी गोद से साफ़ सरक निकला। और निकल कर ऐसा भाग छूटा, मानो कहता है कि 'लो अब पकड़ो !'

वह भागा, भागा। इस बार वह आस-पास टिकने वाला नहीं है। कभी सड़क की दाईं से बाईं तरफ़ वह गया, कभी बाईं से दाईं। मानो चुनौती दे रहा हो कि सबको सब काम छोड़ उसे

और मैं तेरे मुँह पर कहूँ, मैं तुझे इनकार करता हूँ।'

उसका जी बेहद मिचलाने लगा। वह प्यूटिन् विसटता हुआ सामने दीख ही रहा था। वह ओझल होता ही न था। और वह सज्जन भी दीख रहे थे जो अपने प्यूटिन के हाल को देख रहे थे।

पर वह हुआ सावधान। क्यों कि दीखा, सामने से प्रमीला चली आ रही है। प्रमीला! उसके बाल कुछ अनसँवारे-से हैं, और हवा से हल्के-हल्के हिल रहे हैं। रेशमी साड़ी की पर्तें उस हवा में काँप रही हैं। पैर ऐसे पड़ रहे हैं, मानो पड़ ही नहीं रहे हैं। जैसे स्वप्न-लोक में से उतरी आ रही है और स्वप्न में ही चल रही है। उसके चेहरे पर विषाद, हाँ, वह तो है, पर रेखा कोई नहीं है। मानो निपट निष्कलुष हो।

वह बढ़ती ही आई। हरीश कठिन हुआ। प्रमीला ने पास आकर जो उसे देखा तो सहमी-सी। हरीश को पहचान कर ही उसने मोटर रोकी थी। रोकने-रोकने में यह कुत्ते की दुर्घटना घट गई। फिर भी उधर उसका ध्यान गौण था। वह हरीश के यों अनायास मिलने पर प्रसन्न थी। पहले दिन वह हरीश की पुरुषोचित परुषता पर अपने से कुछ खीझी और हरीश पर, जी हाँ, कुछ रीझी थी। इस समय सोचती थी कि कहेगी, "कैसा सुहावना है! चलिए, घर चलिए। नहीं तो आइए, गाड़ी पर आपके घर पहुँचाये देती हूँ।" पर पास आकर हरीश के समक्ष वह निश्शब्द, प्रार्थिनी-सी खड़ी रह गई।

हरीश को सबसे पहले उसकी असावधान सुन्दरता दीखी और उसने कठोर और संक्षिप्त भाव से कहा, "वह आप की गाड़ी है?"

प्रमीला जैसे अभियुक्ता नहीं, अपराधिनी ही हो। उसने कहा,

"जान पड़ता है, मैं दुर्घटना कर बैठी हूँ। आपको देख कर मैं गाड़ी रोकूँ-रोकूँ कि मैंने कुत्ते पर से पहिया गुजार दिया मालूम होता है। मैं—"

"मालूम होता है ?" हरीश ने कहा, "वह देखिए। उसका नाम प्यूटिन् है। अभी खेल रहा था। अब एक टाँग उसकी शायद आप के पहिये में चिपक गई है और वह मौत के ज़रा दर्शन करके अब डर से बेचारा तीन टाँगों से ही अपनी लोथ को घसीटे लिये जा रहा है!"

प्रमीला ने कुत्ते को देखा। वह दृश्य उसे असह्य था। उसकी आँखें भीग आईं! बोली, "मैं बहुत दुःखी हूँ, बहुत दुःखी हूँ। आपसे क्षमा माँगती हूँ।"

उस चेहरे पर पानी से भरी वे आँखें तो और भी सुन्दर हो आईं। और उसकी वह अपराधिनी मुद्रा! हरीश ने कहा, "क्षमा ?—वह कुत्ता मेरा कोई नहीं है। पर मैं जानना चाहता हूँ कि आपने उसे मरने के लिए तीन टाँग समेत जीता क्यों छोड़ा? इसमें उसको या आपको कोई सुख है ?"

इस पर प्रमीला विस्मय से हरीश को देख उठी। उसकी समझ में नहीं आया कि किस प्रकार यह अपने को और दूसरे को ऐसी तीखी पीड़ा दे सक रहे हैं। कुछ देर खोये भाव से उन्हें देखते रहकर असमञ्जस-से में प्रमीला ने कहा, "प्यूटिन् के लिए जो हो सकता है, वह सब मुझे करने तो दीजिएगा न ? वह अब मेरा काम है।"

हरीश प्रमीला को देखता रहा। मानो कठोरता पर से उसका अधिकार शिथिल होना चाहता हो। कातर आज्ञापेक्षिणी-सी प्रमीला ने बढ़ना चाहा कि प्यूटिन् को सँभाले। तभी हरीश मानो हँसकर

बोला, "उसे बचाइएगा ? मार नहीं सकीं, तो अब बचाइएगा ?

प्रमीला को जैसे जीती बिजली छू गई । वह सन्न रह गई । फक, स्तब्ध, सफेद पड़ गई हुई यह नारी उस समय और भी सुन्दर हो उठी । उस स्नेह-कातर और अपराध-भीत निर्दोष सौन्दर्य पर हरीश का चित्त मानो गर्म-पर-गर्म होता गया । मानो आज वह अपने ही अन्तःस्थ सौन्दर्य के प्रति खड्ग-हस्त हो । उसका ताप भीतर से बढ़ता ही आया । कौन यह नारी अपने भोगे, धौले, कोमल, सराग रूप को आगे लाकर सत्ता की काली और दुर्दान्त और निठुर सचाई को मेरी आँखों से ओट करने आई है ! एक-छत्र और सार्वत्रिक निरंकुशता के तट पर यह क्या मानवीय असहायता दया के आँसू गिराने आई है ? यह विडम्बना है, यह पाखण्ड है, यह व्यंग है । यह कौन स्नेह के आँसुओं से छलक आने को उद्यत अपनी आँखें लेकर कहने आती है—"भयानक सचाई मत देखो; मैं युवती हूँ, और रो रही हूँ । सत्य विराट् हो, पर मैं नारी हूँ । सत्य रौद्र हो, पर मैं सलोनी हूँ । वह कठिन हो, निर्मम हो, दुर्गम हो; पर देखो, स्नेह से स्निग्ध, मैं सुलभ भी हूँ । होगा कुछ अँधेरा और काला; मैं जो तुम्हारे सामने खड़ी हूँ, बोलो, उजली और गोरी नहीं हूँ ?" छिः छिः, महासत्ता की रुद्रता और बीभत्सता के आगे यह कैसा छोरियों का-सा खिलवाड़ है ! यह भ्रमजाल है ! अरे, यही न मायाजाल है, जो सत्य को ढाँके है ?

और हरीश ने अपना हाथ बढ़ाकर प्रमीला का हाथ पकड़ लिया, मानो रोका हो । फिर छोड़ देकर कहा, "नहीं, आप दया नहीं कीजिएगा । आप स्त्री हैं, पर पौरुष तनिक आपके लिए भी बुरा न होगा । वह कुत्ते की बची तीन टाँगें देखिए । उसकी वेदना और आपकी करुणा—मुझे बताइएगा इनमें कौन सत्यतर है, कौन महत्तर है ?

क्या आप अपनी करुणा पर इस दृष्टि से देख सकिएगा ?"

प्रमीला ने अतित्रास भाव से कहा, "यह आप क्या कह रहे हैं ? हमारा वश अधिक नहीं है तो क्या अपने वश से दया को भी निकल जाने दें ? पर, मैं कहूँ, मैं आपको समझती हूँ।"

हरीश की भौं सिकुड़ आई। उसने कहा, "मैं कहता हूँ कि मनुष्य अपने को अन्धा करने के लिए दया के आँसू नहीं ला सकेगा। दया देकर थोथी सांत्वना मनुष्य नहीं पा सकेगा। यह मनुष्य का दम्भ है। जिसने सबके जीने और मरने को अपनी मुट्ठी में बन्द किया हुआ है, जान पड़ता है जब वह अभागा दैव विशेष साव-धान नहीं है, तब कुछ सुधार नहीं हो सकेगा। पर, मोटर पर न बैठने में तो आदमी का वश अवश्य है।"

प्रमीला आँसू और विस्मय से भरी आँखों से हरीश को देखती रही। मानो हरीश के लिए आँसू और विस्मय दोनों ही उसके पास हैं।

पर फिर भी हरीश के भीतर का विद्रोह गुर्राता ही रहा।

इसी समय हरीश को दीखा कि कुत्ते के मालिक वह सज्जन पास खड़े हुए हैं। दीखा, जैसे कि वह प्रमीला को पहचानते हैं। उनके मुख पर क्लेश नहीं है, मानो आभार है। वह शायद कुछ उत्सुक हैं। मानो कि उनके प्यारे प्यूटिन् को अपनी मोटर से कुचल देने वाली इस रमणी से उन्हें जवाब तलब नहीं करना है, वरन् उधर से कचित् कृपा के कटाक्ष पाने की ही अभ्यर्थना है। वह बोलने के उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में अपनी बेंत को इस हाथ से उस हाथ कर रहे हैं। और...

हरीश की आत्मा में मानो आग ही लग गई। उसने रुद्ध

भाव से प्रमीला से कहा, "मेरा नहीं, वह प्यूटिन् आपका है।" और कहकर वह आगे बढ़ चला।

सामने, कुछ ऊपर, घोर काले बादल उसे दीखे और उसमें हुआ कि हमारी दया क्या वैसे ही प्रवञ्चना नहीं है जैसे इन बिजली-भरे बादलों की गहन कालिमा के सामने हमारा तोले-भर का चाँदी का सिक्का ? और हमारा सौन्दर्य क्या वैसे ही नहीं है जैसे आँधी में फूँक ?

और इस प्रकार एकदम अपने को तोड़ कर जाते हुए हरीश को प्रमीला देखती ही रह गई।

मीठी खीझ

उसका नाम ज्योत्स्ना था, लेकिन विमल ने सोचा कि वह एक दम काली क्यों न हुई या अपने मन के घुमड़ते हुए सारे अँधेरे को लेकर उसके उजले मुँह पर जाकर क्यों न पोत दे कि वह सदा के लिये सब के लिये काली बन जाय। उसके दाँत, जो उसकी हँसी में सफेद होकर दीख आये थे, क्यों न एक मुक्के की चोट से उन सबको वह तोड़ कर रख दे।

विमल यह सब सोच रहा था, लेकिन देखता था कि ज्योत्स्ना का मुँह, कम्बख्त अब भी गोरा-गोरा उसके आगे आकर उसे लुभा ही रहा है। वह फनफना रहा था, धिक्कार है, ऐसे अपमान के बाद वह जी रहा है। क्या उसके साथ सब तय करने के बाद भी उसने सिनेमा की सीट रिज़र्व न की थी, फिर उसे क्या हक था कि वह मासूम बन जाय और ऐन वक्त पर अपनी माँ से पूछने बैठे, मायाविनी कहीं की।

उसकी समझ में न आया कि वह क्या करे, घड़ी में वक्त होता जा रहा था, सिनेमा में जाकर क्या उसे पत्थर में सिर फोड़ना है। वह सिनेमा के हाल में अपने को अकेला बैठा हुआ देखने की

कल्पना पर ही तैश से जल आता था। साढ़े छः से खेल शुरू होता है, कम्बख्त जाने, बैठी क्या कर रही होगी ? माँ की गोद की बच्ची ही है न, घड़ी टिक् टिक् कर रही थी और सुइयाँ आगे-बढ़ती जा रही थीं। वह सोचता था, क्या सोचता था, नहीं, नहीं, कुछ नहीं, हाल में अन्धेरा होगा, हम दो होंगे और अपने अलग बाक्स में होंगे और फिर क्वालिटी में जायेंगे और फिर...वह तेज कदमों से कमरे में घूम रहा था; कभी मुट्ठी बाँधता था, कभी खोलता था। उसने सोचा कि अभी फोन पर कम्बख्त की सारी शेखी झाड़ दूँ और जाकर सिनेमा में आग लगा दूँ, लेकिन कदम चल ही रहे थे, और वह उसके चारों तरफ घिरे शेर की तरह टहले ही जा रहा था। फोन उसने नहीं उठाया। कुछ भी उसने नहीं किया। रह-रह कर घड़ी की सुइयों को देखता था और देख कर फिर उसी बेबसी से टहलने लग जाता था।

कि फोन टन-टन कर उठा। जी हुआ कि वह उस बेवकूफ की गर्दन मरोड़ देता, जिसने इस वक्त फोन किया है। चोगा उठाकर उसने झटके के साथ कहा, 'हलो कौन है ?' आता हुआ अपने नाम के साथ मानो जो दूसरी तरफ से डार्लिंग सुना, सो उसने पहिचाना नहीं। धमकी से फोन में मुँह देकर कहा—

"कौन है ! ह्वाट् डू यू वांट ?"

"विमल डार्लिंग ! देखो, तुम नाराज तो नहीं हो ?"

"क्या, कौन ?"

"मैं ज्योत्स्ना।"

"कौन ! कौन है ! साफ नहीं बोला जाता है ?"

"मैं ज्योत्स्ना...ज्योत्स्ना !"

"यहाँ आवाज हो रही है, सुनायी नहीं पड़ता, ठीक बोलो,

नहीं तो बन्द कर दो, नोन्सेन्स।"

"मैं, रीगल के पास कपूर-ब्रादर्स से बोल रही हूँ, टाइम हो रहा है। तुम आ नहीं रहे हो ?"

"डैम यू !" जोर से यह कहकर उसने फोन बन्द कर दिया।

फिर वह उन्हीं कदमों से टहलने लगा। सोचता था, नहीं, नहीं सिनेमा जाना नहीं हो सकता, बेवकूफ समझती है कि उसने कहा नहीं कि भागा-भागा मैं उसकी खैरख्वाही में पहुँचूँगा।

यह कल्पना करके उसे आनन्द आया कि आखिर वक्त तक जब मैं नही पहुँचूँगा तो वह कैसी पिटी-सी दिखाई देगी। टिकट मेरे पास है। खड़ी-खड़ी ताका करे।

फोन की घण्टी फिर बजी। चोगा उठा कर झिड़की के साथ उसने कहा, "हलो, कौन है ?"

"इज दैट मि० सिन्हा !"

"क्या ? कौन !"

"विमल डार्लिंग, मैं रीगल की बगल से बोल रही हूँ। तुम कब आ रहे हो ? टाइम तो हो गया।"

"ज्योत्स्ना ! कैसा टाइम ? रिजर्वेशन तो हुआ ही नहीं। आदमी मेरा लौट आया।"

"क्या कहते हो, विमल ! मैं तो यहाँ खड़ी हूँ। माँ से लड़कर आ रही हूँ। आओ तो ! यहाँ नहीं तो और कहीं चले चलेंगे।"

"नहीं, नहीं, मैं नही आ सकता। ड्राइवर नहीं है। चाभी शायद उसी के पास है।"

"टैक्सी ले आओ न।"

"यहाँ कहाँ है टैक्सी ! माफ करना, तुम घर लौटकर जा सकती हो।"

"विमल !"

"हाँ, हाँ, घर लौट जा सकती हो। आइ ऍम सॉरी !"

"विमल डार्लिंग। तुम नाराज हो ?"

"नहीं, नहीं मैं खिन्न हूँ। माफ करना, रीगल यहाँ से तीन मील है, तुम इतनी देर वहाँ रुक कैसे सकोगी ? हाँ ? गाड़ी होती तो..."

"तो तुम नहीं आ रहे हो ? यही न ?"

"आइ ऍम सॉरी !"

"अच्छी बात है। धन्यवाद !" कहकर ज्योत्स्ना ने अपनी तरफ का फोन ठप् कर दिया। उसकी खड़क जोर से विमल के कान पर आकर लगी। इधर ज्योत्स्ना ने बिना कॉलर के कोट का कॉलर ऊँचा किया। आस-पास अपनी साड़ी की क्रीज को देखा, मेसर्स कपूर-ब्रादर्स की सामने की आलमारी के आइने में अपने ऑक्स को देखा और वह दरवाजे से बाहर निकल कर चली आई।

हाल करीब-करीब खाली था। लोग अन्दर जा चुके थे। इक्के-दुक्के ही वहाँ टहलते दीखते थे। बुकिंग की सब खिड़कियों पर 'क्लोज्ड' का तख्ता लगा था। पिक्चर की इधर-उधर की लगी तस्वीरों को उसने ऐसी उड़ती नजरों से देखा, जैसे सब तुच्छ हो। और किसी की उसे पर्वाह न हो। लेकिन हठात् वह एक-एक के पास खिंचती गई और गौर से उन तस्वीरों को पीती हुई देखती रही।

विमल ने पीठ की तरफ से उसको उसी हालत में देखा। वह चुपचाप आगे बढ़ा। उसने समझा कर एक टिकिट असिस्टेंट मैनेजर के हाथ में दिया, और अन्दर आराम से अपने बॉक्स में जा बैठा।

"मैडम !"

ज्योत्स्ना ने बड़ी अवज्ञा के साथ गर्दन को पीछे मोड़ा और पूछा, "व्हाट डू यू वांट !"

विनम्र भाव से असिस्टेंट मैनेजर ने टिकिट का कागज उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा, "यह श्रीमती जी के लिये है।"

"क्या, कौन, ह्वाट डू यू मीन ?"

"जी, यह आपके लिए है।"

"क्या ?"

"अभी हमारे दफ्तर में एक बेयरा आपके लिए कहकर हमें यह दे गया है।"

"एक !"

"जी !"

"बेयरा !"

"जी।"

"अच्छा।"

असिस्टेंट ने कहा, "क्या मैं श्रीमती जी को मार्ग दिखा सकता हूँ ?"

"धन्यवाद ! आवश्यकता नहीं है।"

बॉक्स में अँधेरा था, उसे नहीं अवसर मिला कि वह जाने कि कौन बेहूदा है, जो उसके हाथ को खींच कर अपने होठों तक लिये जा रहा है, "उसने कहा, यू स्वायन !"

उत्तर मिला "थैंक यू मैडम !"

और दो क्षण बाद दोनों बराबर कुर्सियों पर बैठे मजे में पिक्चर देख रहे थे।

भूत की कहानी

तमाम शहर में, जो जानकार हैं उनमें, इसी की चर्चा है। हम भी जब बैठे उसी चर्चा को ले रहे। वास्तव में उस अँग्रेज ने अन्तर्दृष्टि का अद्भुत ही चमत्कार दिखाया है। कठिन साधना से उसने वह तुरीय दृष्टि पाई है जो बहुत दूर तक काल के अँधेरे को भेद-कर छिपी बात को प्रकाश में ले आती है। शहर में समस्त उपलब्ध साधनों से उसकी ख्याति सर्वविश्रुत बना दी गई है कि उसके अन्तर्ज्ञान से लाभान्वित होने से वञ्चित रहकर अवकाश किसी व्यक्ति को न रहे।

एक लक्षाधिपति का पुत्र बाईस वर्ष का हो गया था और अविवाहित था। कुछ पढ़-लिख भी गया था और पिछले एक-आध साल से दुकान की गद्दी पर भी सँभल कर बैठने लगा था। फिर भी अविवाहित था। जिस आयु में दो पुत्रों का पिता उसे हो जाना चाहिए, उस आयु में अविवाहित था। और जिस आयु में विवाह की ओर विवाहित वस्तु की ओर विवाहोपरान्त के तत्काल को पाने की अमर उत्कण्ठा होती है, उसी आयु में उसमें विवाह के नाम पर एक अटूट उपेक्षा का ही भाव देखा जाता था।

पिता ने इस ज्ञानी की शरण ली, और उसकी पूरी फीस भरने के बाद उसे यह ज्ञात हो जाने दिया कि उसकी थैलियाँ इससे तनिक भी खाली नहीं हुई हैं, और उन्हें उनके मुँह खुलने-न-खुलने की विशेष चिन्ता नहीं है,—बस उसका मनोरथ पूरा होना चाहिए। और पुत्र भी, अपने को बदलने के लिए, अच्छा व्यय कर सकता था। इसके परिणाम में जन्मान्तर का और लोकोत्तर का एक ऐसा सत्य उक्त अँग्रेज ने उद्घाटित कर दिखाया कि सेठजी का मनोरथ सिद्ध हो गया, शहर चकित हो गया, और हम लोग बहस कर पड़े।

कुछ दिन योग और प्रयोग में बिताने आवश्यक हुए। आत्म-शुद्धि सम्पन्न करने में इस तरह दिन लगाने आवश्यक हो ही जाते हैं; क्योंकि, हम लोग सब मलिन, पार्थिव और दैहिक जीवन-यापन करते हैं। आत्मिक स्तर पर अपनी सम्पूर्ण चेतना को ले जाने के लिए अत्यन्त सात्त्विक आहार, एकाकी काल-यापन, अन्तर्मुखी गुप्त-चर्या, सेवाश्रित निश्चिन्त जीवन, नियुक्त ध्यान आदि-आदि आवश्यक होते हैं।

तो, चतुर्थी की तिथि को, ब्राह्म मुहूर्त में, आकस्मिक प्रकाश की भाँति आत्मा के भीतर ज्ञानोदय हुआ कि लक्ष्मी के उस वरद पुत्र के प्रथम जन्म की विवाहिता पत्नी सद्यः जीवित है। इसी की विस्मृत-सी स्मृति उक्त युवा की सुषुप्त चेतना में अब तक कुछ-कुछ विद्यमान है और वहीं से उस विवाह-सम्बन्धी अचिन्तनीय उपेक्षा का जन्म है।

उस 'विधवा-सधवा' के स्थान के सम्बन्ध में अक्षांश और देशान्तर रेखाओं और नक्षत्रों की गति-विधियों के गूढ़-हिसाब में से निकाल कर जो परिचय उक्त गौराङ्ग व्यतीत-ज्ञानी ने दिया,

उससे देखा गया कि वह स्थान युवक के निकट सर्वथा अज्ञात, अदृष्ट और अचिंत्य था।

किन्तु ज्ञानी के इस परिज्ञान द्वारा उद्बोधन पाकर सहसा ही पूर्व-भव की स्मृतियाँ सोते-से जग पड़ीं, और वह युवक तब की रत्ती-रत्ती बातें ऐसे बताने लगा कि आज ही बीत रही हों। और बड़े-बूढ़ों ने बताया, उनमें रश्च-मात्र अन्तर नहीं है।

और, देखिए तो...! दस बरस की अवस्था से विधवा होकर रहने वाली वह बत्तीस बरस की आयु की गत-यौवना उक्त युवक के घर में प्रवेश करते ही नवेली दुलहिन की भाँति घूँघट काढ़कर पति के पैरों में आ गिरी, और रो उठी, 'ओ मेरे स्वामी, मुझे छोड़ कहाँ गये थे,—मेरी सुध अब तुमने ली है!'

और लोगों ने इस ज्ञानी के आगे माथा झुकाया।

: २ :

तो इस चर्चा को लेकर हम बैठे और भटक पड़े।

डाक्टर ज्ञानविहारी ने कहा, "हम 'असम्भव' शब्द को बहुत शीघ्र आगे न ले आयें। यह दीवार है, जो हम जरा दिक्कत होते ही, अपने सामने ला खड़ी करते हैं। यह आदत बुरी है। 'असम्भव' शब्द की जड़ में आलस्य है। आलस्य ज्ञान का शत्रु है। प्रश्न है कि जो प्रत्यक्ष है, वर्त्तमान है, क्या वही हमारे ज्ञान की परिधि है? नहीं है, प्रत्युत, प्रत्यक्ष में से ज्ञान का आरम्भ है। उसके विकास की दिशा प्रत्यक्ष के बाहर है, भीतर है, वर्त्तमान के आगे और पीछे है;—प्रत्यक्ष और वर्त्तमान की ओर नहीं है, उनसे विमुख है। जब यह है, तो भविष्य निश्चय से अज्ञेय क्यों है, और भूत अज्ञात क्यों?"

प्रोफेसर विद्या-स्वरूप ने गम्भीरता से कहा, "ज्ञान के निकट भूत अज्ञात है, भविष्य अज्ञेय है; कल्पना के निकट दोनों अगम्य नहीं हैं। कल्पना ज्ञान नहीं है, इसलिए, जो ज्ञात है वह प्रत्यक्ष ही हो सकता है। जो प्रत्यक्ष नहीं है वह ज्ञात भी नहीं है, ज्ञात से कुछ कम है।

डा० ज्ञान०—"कल्पना ज्ञान की दाहिका है। दोनों में तलाक कौन चाहता है?"

मि० छैलविहारी माथुर—"तलाक!—भाई, मैं चाहता हूँ। मैं नई चाहता हूँ।"

एडवोकेट खन्ना—"सपना क्या वस्तु है? क्या वह अंकुशविहीन कल्पना ही नहीं है? किन्तु, क्या उससे ज्ञान बढ़ता है?...लेकिन मैं कहता हूँ, वह अँग्रेज चालाक है। मैं तो यह भी कहता हूँ कि वह कानून की पकड़ में क्यों नहीं आ सकता?"

एडीटर मि० ए० वी० वेडर—"तो आप 'मेस्मेरिज्म' और 'आकल्टिज्म' के लिए कोई आधार नहीं छोड़ना चाहते? इन विज्ञानों पर जगत् की उत्कृष्ट बुद्धि और विपुल द्रव्य खर्च हो रहा है।"

मि० माथुर—"चाहें तो आप खर्च हो सकते हैं। मैं अपने को इन बातों में खर्च नहीं कर सकता।"

मि० वेडर—"ठीक है, मि० माथुर।"

मि० आनन्द मोहन—"ज्ञान से किया, तरकीब से किया,—आप इस पर मनन करें। लेकिन इस अँग्रेज ने किया खूब! पिछले जन्म तो एक क्यों अनेक हैं, असंख्य हैं।—इस तरह हो, तो मनचाही बीबियाँ मुफ्त मिल सकती हैं। यह बात तो खूब है!"

चौधरी गजराजसिंह—"पूरब जनम अवश्य होता है।"

मि० माथुर—"लीजिए साहब, चौधरी साहब को भी चाहिए। इनका नाम भी उस महात्मा को लिखवाइए।"

एडवोकेट खन्ना—"'मेस्मेरिज्म' और 'आकल्टिज्म' की बात मि० बेडर ने की है। क्या कोई जानता है वह क्या हैं?"

डाक्टर ज्ञानविहारी—"जिन द्रव्यों का हमें साधारण प्रक्रिया से बोध होता है, कुछ उनसे सूक्ष्मतर द्रव्य भी हैं। उनका साक्षात् सीधा बोध ही हमें हो सकता है। मध्यवर्ती ज्ञानेन्द्रियाँ उनके दर्शन की वाहिका नहीं होतीं। उसके लिए विशिष्ट शक्ति की आवश्यकता होती है। वह शक्ति उपार्जन से भी होती है, प्रदत्त भी होती है। उसी के प्रयोग-भेद से ये दो विद्याएँ हैं।"

मि० बेडर—"मेस्मेरिज्म और आकल्टिज्म का मतलब वह जानता है जो कुछ जानता है।"

मैंने कहा, "तो जो आकलिस्ट कहते हैं, हम मानें?"

डाक्टर—"क्यों नहीं मानें?"

विद्यास्वरूप ने कहा, "तो न मानने को क्या रह जायगा?"

डाक्टर ज्ञान०—"बेशक, यही मुश्किल है कि फिर न मानने के लिए क्या शेष रखा जाय? यह मुश्किल मेरे सामने अब तक है। मुझे तो सब झूठ सच लगता है। जब है, तो झूठ झूठ कैसा? होने मात्र से वह सत्य हुआ। इसीलिए मैं नहीं कहता कि आप मेरी बात मानें।"

विद्यास्वरूप—"मानने लायक होती तो मानते—"

मैंने पूछा, "तो भूत-प्रेत, यक्ष-किन्नर हैं?"

विद्यास्वरूप—"वे तो हैं—"

चौ० गजराजसिंह—"मैंने भूत देखे हैं—"

विनोद ने पूछा, "आँखों देखे हैं?"

माथुर ने कहा, "मैंने भूत से बदतर आदमी देखे हैं।"

चौधरी गजराजसिंह ने झिझकते हुए कहा, "देखे ?—देखे नहीं,—हाँ,—"

डाक्टर ज्ञान०—"भूत आदि फिर ऐसे द्रव्य हैं जो सबको नहीं दीख सकते। और जिनको दीखते हैं, वे प्रमाणित नहीं कर सकते।

मैंने कहा, "जो मानते हैं उनको ही दीखते हैं। देखने से पहले उन्हें मान लेना होता है। मानने और दीखने में उनके ऐसा अविनाभाव-सम्बन्ध है कि वही कहना होगा कि भूत आत्म-जनित है।"

डा० ज्ञान०—"यह ठीक मालूम होता है। जो अनुमान और तर्कना और बुद्धि के सहारे भूत तक पहुँचते हैं, वे भूत कभी नहीं देख पाते,—'भूत की धारणा' देख पाते हैं। और जो सीधा भूत देख लेते हैं, वे भी उसे अपने में से ही निकाल कर देखते हैं। अपने से बाहर हम कुछ नहीं देख-जान सकते...लेकिन, फिर भी भूत क्यों नहीं हैं ?..."

और डाक्टर ज्ञानविहारी स्वयं अपनी उलझन में पड़-कर शङ्कित-से हो उठे।

आनन्दमोहन ने कहा, "अच्छा, किसी ने भूत देखा भी है ?"

जो हम में समझते थे कि उन्होंने देखा है, मालूम हुआ कि उन्होंने सुनकर 'समझा' है कि देखा है।

मैंने तब विनोद से पूछा, "विनोद, तुमने इतना कुछ देखा, भूत नहीं देखा ?"

विनोद ने कहा, "देखा तो कुछ-कुछ है।"

माथुर ने कहा, "विनोद भी अजब शै है। अब तक हज़रत गुपचुप ही बैठे रहे, लो अब कुछ मजे की बात कहो।"

विनोद ने कहा, "मैं मजे की बात तो जानता नहीं भूत की बात कह दूँगा।"

हम सबने कहा, "हाँ-हाँ-हाँ।"

डा० ज्ञान ने भी कहा, "हाँ, कहो, मैं सुनूँगा।"

: ३ :

विनोद को आप जानते होंगे। बड़ी बातें जानता है, पर कहता छोटी बात ही है। कहता है, 'जो छोटी बनाकर न कही जा सके वह बात बड़ी कैसी ? जो बड़ी बात डरावनी, दुर्बोध बनकर ही सामने प्रकट हो सकती है, स्पष्ट है कि उसका बड़प्पन ऐसा बना हुआ, शिथिल है, कि भय का, दुर्बोध्यता और जटिलता का सहारा न हो तो धूल में आ गिरे।' इसलिए वह बहस में कम पड़ता है, कहानियाँ अधिक सुनाता है।

विनोद ने कहना शुरू किया—

"मैं भूत की कहानी सुनाऊँगा। जो बीत गया वह भूत है। मैं बीत जाऊँ तो भूत हो जाऊँ। मैं मिट तो सकता नहीं, क्योंकि कुछ मिटता नहीं। किन्तु 'बीत गया,' इसका अर्थ हुआ,—वर्त्तमान से 'मिट गया'। ऐसी अवस्था में मैं भूत बनकर वर्त्तमान रहूँगा। आदमी बनकर मेरा रहना समाप्त हुआ कि भूत बनकर मैं जी उठूँगा। वर्त्तमान है, इसी लिए अवर्त्तमान भी है। अवर्त्तमान भूतापेक्षया वर्त्तमान है। इसलिए भूत अवर्त्तमान अवश्य है, किन्तु सत्य है;—आप देख ही सकते हैं कि वह व्याकरण-सिद्ध है। अतः प्राणी जब मर जाता है तब व्याकरण द्वारा वह भूत होता है। यही आगम-कथन है।

"आपको वह सुनाऊँगा जो मेरे साथ बीता है। बीता है,

इसीलिए वह भूत है, तिस पर भी भूत की बात को लेकर वह बीता है, इसलिए भूत ही भूत है। और मेरे साथ बीता है इसलिए मेरा भूत है,—आपका हो न हो यह मेरा जिम्मा नहीं। अपनी ओर अपने भूत की बात मैं आपको सुनाऊँगा।

" 'नेति, नेति' परमात्मा की सबसे सुन्दर, सबसे यथार्थ और सबसे अन्तिम परिभाषा है। यों सहस्र-नाम-स्तोत्र में भक्त की तृप्ति नहीं।...

"यह भी नहीं है, वह भी नहीं है, कुछ भी नहीं है,—फिर भी तो है,—भूत होने को, अन्तिम सौन्दर्य के साथ, इसी तरह का होना कहा जा सकता है। किन्तु भक्तगण सहस्र-गुणस्तवन और लक्षौपधि-पाठ के प्रचार में अतृप्त दीख पड़ें तो इसमें भूत नामक द्रव्य का उत्पात आप न मानें, यह तो उनकी भक्ति की महिमा और विशेषता है।

"जो तुच्छ बुद्धि मिल गई है और जो तुच्छ व्याकरण-ज्ञान पा गया हूँ, उन दोनों को लेकर कभी कहने का अपराध न कर सकूँगा कि 'भूत नहीं है।' और बहुत ही लाचार करोगे तो मैं धर्म-सङ्कट मानकर कह दूँगा, 'भाई, अच्छी बात है, तुम कहते ही हो तो मैं कहे डालता हूँ, भूत नहीं है।' मैं जोखम नहीं लेना चाहता। और राह ही न छोड़ोगे तो अधिक जोखम की बात से बचकर कम खतरे की बात ही कहूँगा, 'भूत नहीं है।...'

"कह दो 'मैं कायर हूँ।' पर तुम्हारे कहने से भी मैं न कहूँगा, 'मैं सर्वज्ञ हूँ।'

"तुम कहोगे, जब सर्वज्ञ नहीं हूँ तो क्यों कहता हूँ, 'नहीं है।' मैं कहूँगा कि, सर्वज्ञ नहीं हूँ, ठीक इसी से कहता हूँ, 'नहीं है'; क्योंकि नहीं कह सकता 'है।'

"जो कहता है 'है' उसकी सेवा में यह साग्रह निवेदन है कि सोचे कि सच, क्या वह ठीक कहता है ?

"फिर भी जो कहता है 'है', उसे मेरा प्रणाम।

"किन्तु हर व्याकरण की प्रवेशिका में देखा है, 'भूत काल है।' कहीं नहीं देखा, 'भूत काल था।' अर्थात्—भूत है, और काल है। या भूत काल है, इससे है।

"हर हालत में भूत को जिसने देखा काल-रूप में भूत सदा 'है' है, 'था' नहीं है, इसलिए 'नहीं' नहीं है।

"जिससे मौतें हो गई हैं और हो रही हैं; जिसमें क्षणिक विश्वास के कारण मैं मौत के इतने निकट पहुँच गया जितनी स्वयं उसकी छाया; और जिसमें लगभग तात्कालिक अविश्वास के कारण मैं बचा और अब यहाँ हूँ;—उसी को मैं आप सज्जनों के सामने कैसे न कहूँगा 'है।' विश्वास-अविश्वास, ये मानसिक वृत्तियाँ हैं। जिसको लेकर उन वृत्तियों में बल आता है उसी को क्यों न कहूँगा कि 'है, और खूब है'।

"भूत 'है' ही नहीं है, वह जोर के साथ है, क्योंकि वह शक्ति है।

"मेरे 'नहीं' कहने का तात्पर्य है कि वह होना कम चाहिए। यहाँ तक कि हो ही न, तो हर्ज नहीं।

"किन्तु मैं तो कहानी कहता हूँ।...यह इतना इसलिए कहा कि आपके और मेरे बड़प्पन की रक्षा का भी कुछ सामान हो जाय। कहानी छोटी चीज है। छोटी ही उसे रखनी चाहिए। किन्तु आप बड़े हैं, और मैं भी छोटा क्यों रहूँ, इसलिए कुछ बड़ी-सी बातों से मैंने उसे बड़ी कर दिया है।

"अच्छा, सुनिए—

: ४ :

"बिन-घरनी घर जिनका डेराहो जाता है। उन जीवों केपास क्या साधन हैं कि घड़ी-की-घड़ी जान लें कि 'अमुक घर बिन-घरनी हुआ है, चलो, चलकर वहाँ डेरा जमायें,' यह तो मैं नहीं जानता; लेकिन, उसी रोज की बात है जिस दिन श्रीमती घर के बहुत से सामान के साथ, बाल-बच्चों के और अपने भाई के साथ, मैके चली गई थीं। उन कम्बख्त भूतों ने एक रोज का भी तो अवकाश मुझे न दिया। छुट्टी की पहला रात को मैंने जो भुगता उससे समझ लिया कि जीते-जी स्त्री से छुट्टी मेरे भाग में नहीं है। मैं दूसरे ही दिन ससुराल चला गया और जितना सहा सहकर, बिगाड़-तोड़ करके भी मैं छठे सातवें रोज घर पर आ गया।

"उस कमरे में, व्यवस्था को अदल-बदल करके, एक मेज लगा दी गई। दो नये गुलदस्ते खरीदकर उस पर रखे गये। श्रीमती बच्चों को नौकर के साथ घूमने भेजकर, और नौकरानी को खूब अच्छी तरह काम में लगा छोड़कर, पास सोफे पर अपने स्थूल मांसल शरीर को आधा-सा लिटाकर पूछने लगीं, 'पान नहीं खाओगे ?' और बिना पान दिये हँसने लगीं। और यह क्रम रोज ऐसा दुहराया जाने लगा कि सुर्मे के डोरों के किनारों से घिरी आँखें और मुस्कराते हुए ओंठ, और साड़ी और जम्पर के भीतर घिरी देह की सन्निकटता और सुरभि, इनसे हटकर जब मन किसी भी दूसरी ओर जाने से इनकार करने लगा,—तब जी में जी आया।"

मि० माथुर ने कहा, "तब भी जी न आ जाता—"

विनोद ने कहना जरी रखा, "श्रीमती समस्त श्रेय अपना मानते हुए मन-ही-मन प्रसन्न होकर उलहना देतीं कहतीं, 'बड़े वैसे हो !—ऐसा मुझ में क्या है जो एक रोज भी अकेला तुम से नहीं

रहा जाता। मौका ही आ जाय तो तुम क्या करो,—दौड़-दौड़कर वहीं मेरे पास आ जाया करो'—

"मेरे मन में उस समय होता कि हाय! अरे, अपने छुट्टी के दिन काटकर, अपनी इच्छा से उन्हें घर से ले आने वाला मैं न था। राम-राम, ऐसा मूर्ख मैं नहीं हूँ। पर ये भूत!...और मैं कहता—मुझ से ही पूछोगी, ऐसा तुम में क्या है?

"कहतीं, 'हाँ, बताओ...'

"मैं कहता, 'बताऊँ... ?'

"वह—'हो तो कुछ बताओ न।'

"मैं—'तो बता ही दूँ? देखो बहुत-कुछ है, सब बता दूँ?'

"कहकर मैं भेद के भाव से उनकी ओर देखकर मुस्कराने लगता।

"तब वह झटककर कहतीं, 'यह हर घड़ी का मजाक हमें अच्छा नहीं लगता। हाँ तो...'

"और वह चलने को मानो उतारू होकर उठ पड़तीं।

"जिस पर मैं कहता, 'अच्छा, नहीं बताता। पर, तुम जाओ मत।'

"और वह बैठ जातीं, कहतीं, 'अच्छा न होगा जो अब मजाक किया...हाँ तो, नौकरानी आ जाय—'

"इसका तात्पर्य यही होता था कि मैं स्वस्थ हो जाऊँ कि नौकरानी अभी नहीं आ रही है—

"ऐसी रस-भरी सन्ध्याएँ एक-पर-एक इकट्ठी होकर मन पर जमने लगीं, तो जो कुछ ही रोज पहले मेरे साथ हो गुजरा था, उसका दबाव मन पर से हट गया और अलग रखे चित्र की भाँति मैं उसे सम्पूर्णता में देखने योग्य हो गया।

: ५ :

"उस रोज रात को देर करके घर लौटना मेरा धर्म न था। मैं सही शाम से ही घर पर आ रहा। सोचा था, एक शीतलपाटी और लोई लेकर फर्श पर ही सो रहूँगा। रात गुजरती ही तो है, धरती पर क्या, पलँग पर क्या? और रात गुजरी कि दिन होते ही मेरे मन में गौरव भर आयगा कि वियोगी की पहली रात कितनी ठीक वियोगी की भाँति ही मैंने काटी है।

"अक्टूबर का महीना था। आठ बजे थे। हल्की-सी सर्दी हो चली थी। मैं अपने नीचे के खास कमरे में तकिया डाल चटाई पर पड़ा रहा। किताब हाथ में ले ली कि नींद जल्दी आ जाय। दूधिया बिजली खोल दी।

"गड़गड़ाहट की आवाज आई। बूँदा-बाँदी होने लगी। ऊपर की खिड़कियाँ खड़-खड़ कर उठीं। मैंने लोई ऊपर ले ली और किताब में जी लगाया।

"जी नहीं लगा। किताब तकिये के पास औंधी धर दी। देखा सुई साढ़े-नौ पर आ गई है, किवाड़ खड़-खड़ कर उठते हैं, और यह घड़ी ताक में बैठी चुपचाप टिक-टिक करती जा रही है।

"साढ़े नौ बज गये हैं, किन्तु नींद तो मुझे आई नहीं है। तो क्या बत्ती बन्द कर दूँ? मैं बटन दबा देने के लिये उठकर खड़ा हुआ, बढ़ा, कि सुक्खो ने कहा, 'बाबू जी, नीचे सोओगे?'

"सुकिया महरी है। रोज नीचे की सामने वाली कोठरी में सोती है। आज अभी तक नीचे उतर कर आई नहीं है। ऊपर की मञ्जिल ही पर चढ़ी पूछ रही है, 'बाबू जी नीचे सोओगे?' अर्थात् 'बाबू जी, मैं भी नीचे ही सोऊँ?' सुकिया के दाँत मिस्सी से काले हैं, और लाल किनारी की धोती पहनती है।

"मैंने कहा, सुको, सब किवाड़ बन्द कर लो, हवा बहुत है। और तुम ऊपर ही सोओ।

"बाबू जी, मैंने यहाँ बिछा दिया है। बहू जी फिर मुझ से कहेंगी...

"बिछा दिया है तो तुम जानो। मैं यहाँ ही सो जाऊँगा।

"उसने कहा, 'अच्छा', और वह ऊपर छज्जे पर से खड़ी देखती रही कि मैं बत्ती बुझा देता हूँ, और चटाई पर आ पड़ता हूँ।

"मेरे मन में स्थिरता नहीं आई। नींद भी नहीं आई। बिना ऊपर देखने का साहस किये मैं देखने लगा कि मिस्सी-रँगे ओठों को खोलकर सुकिया पूछ रही है, 'बाबू जी, नीचे सोओगे?' मैंने देखा कि उन खुले होठों को किंचित् खुला ही छोड़ कर देख रही है कि मैं क्या कहता हूँ। सोचती है कि कहूँगी, 'ऊपर मैं कभी सोई नहीं हूँ, अकेले डर लगेगा।' और जब कहता हूँ, 'ऊपर सो,' तो वह और बात भी नहीं कहती है, कहती है, "अच्छा" और छज्जे पर खड़ी देखती है कि क्या मैं उसके बाद और कुछ भी तो नहीं कहता हूँ?

"मैं लेटे-लेटे अँधेरे में यह सब-कुछ देखने लगा। क्या वह अब भी छज्जे पर खड़ी देखती ही है?

"मैंने कहा, 'सुकिया...'

"ऊपर कमरे के भीतर से आवाज आई—'आई...'

"मैंने कहा, 'कुछ नहीं। नीचे से अपना बिस्तर तो ले गई हो न?'

"आते-आते छज्जे पर रुक कर उसने कहा, 'बिस्तर क्या, यों ही सो जाऊँगी, बाबू जी! आपको नींद नहीं आती है क्या?"

"मैंने कहा, 'नहीं क्यों आयगी नींद।'

"यह सुनकर, कुछ ठहर कर, वह फिर कमरे में चली गई।

"उस समय चटाई पर से ही अँधेरे को कन्वास बनाकर अपने मन के प्रकाश में मैंने देखा, सुकिया मिस्सी लगाती है, लाल किनारी की साड़ी पहनती है। इससे पहले जैसे यह सब-कुछ नहीं देखा था, इसी क्षण आविष्कार करके देखा है। और इसके पीछे जो है, वह भी मानो देखा।

"बाहर दालान में ठहर-ठहर कर टप-टप पानी टपकता था और हवा भी अभी बन्द न थी।

"मैंने तकिये में मुँह छिपा कर कहा, नींद आ।

"मुझे लगा, हवा से भारी, भीगी और गरम साँस-सी कोई चीज कमरे में घूम रही है। हल्की लू की तरह कोने-कोने में टकराती हुई वह घूम रही है। छाती पर दबाव वह कभी दे जाती है। थकी-सी मानो वह डोल रही है।

"सिर से पैर तक मैंने ऊपर लोई तान ली। सिर ढक गया, और घड़ी कर रही थी टिक-टिक और पानी टपक रहा था। मैंने कहा, नींद आ।

"फिर धीरे-धीरे सब-कुछ मिलने लगा और उड़ने लगा। क्रम न रहा, शृङ्खला न रही, उद्देश्य न रहा, गति ही गति मानो रह गई। तसवीरें दीखने लगीं, जो भागती उड़ती थीं, और एक-दूसरे में मिलती-खोतीं, भागती ही चली जाती थीं। समय मिट गया और प्रत्यक्ष सब मर गया। जो अप्रत्यक्ष था, अवास्तव था, वह सब-कुछ इस अँधेरे को पट बनाकर जुलूस-से में गाता-रोता गुजरता जाने लगा। मेरा कमरा कहीं न रहा और मेरे सामने कलकत्ता आया और बम्बई बन कर रह गया, और उसकी सड़क पर से

भागती हुई मोटर में से झपटती हुई श्रीमती निकलीं और तत्क्षण सारे चित्रपट को घेर कर मेरे ऊपर मुस्कराती हुई छा रहीं, कि क्षण में वह भी लुप्त और...

"मेरी चेतना मेरे बस में न रही। चित्र अधिकाधिक शीघ्रता से बनने और मिटने लगे।

"तभी बाहर के दरवाजे पर सुन पड़ा—ठक्-ठक्, ठक्-ठक्।

"आती-आती नींद टूट गई। किन्तु क्या मैं जग गया!

"ठक्-ठक्, ठक्-ठक्....

"बूँदे बन्द थीं और हवा धीमी हो गई थी। मैंने अपनी लोई सिर पर से हटा ली। ठक् ठक् मैंने सुना। सिर दबाया, मुँह पर हाथ फेरा,—हाथ पसीने से भीग गया। मैं जागता था। ठक्-ठक् कुछ नहीं है, मेरा भ्रम है।

"ठक्-ठक्, ठक्-ठक्...

"लेटे-लेटे मैंने एक नजर दर्वाजे पर डाली। कुछ न था। डर-सा लगा। मैंने झट मुँह लोई में कर लिया।

"किन्तु आवाज़ आती रही। मैं सुनता रहा और लोई में बन्द रहा। आवाज़ भ्रम नहीं है। भीतर-ही-भीतर मेरा साँस तेजी से आना-जाना शुरू हो गया।

"मैंने स्पष्ट देखा, ठक्-ठक् में एक क्रम है, कुछ नीति है।— मैं घबराने लगा।

"आठ-दस बार मानो बँधे संकेत के अनुसार उसी प्रकार ठक्-ठक् हुआ।"

"मैं काँपने लगा। मैंने मुँह खोला और ढका। ढका और खोला। आवाज़ होती थी और ठहर जाती थी, और फिर होती थी और ठहर जाती थी, और फिर होती थी। मेरे माथे पर पसीने

की बूँदें खड़ी हो आईं। मैं थरथराता था। मेरे भय का त्रास मुझे असह्य होने लग गया। तब उसमें साहस उपजा। मैंने जोर से कहा, 'कौन है ?'

"मेरी आवाज अपने ही जोर में गूँजी, और फिर सन्नाटा हो गया।

"मैं साँस रोक, फिर लोई में मुँह करके रह गया।

"पाँच-सात मिनट सुन्न सन्नाटा रहा, जिसमें घड़ी की टिकटिक ऐसी लगी जैसे छाती पीटती हो।

"और फिर वही—ठक्-ठक् ! ठक्-ठक् !!

"मैं अब कुछ बोल न सका, दर्वाजे की ओर मुँह फेर कर देखने के योग्य भी मैंने अपने को न पाया।

"मैं अपने को लोई के भीतर कसकर लपेट कर पड़ रहा कि फिर आवाज हुई ठक्-ठक् ! और उसके बाद किसी ने कहा, 'खोलो।'

"ऊपर पड़े लोई के आवरण को, मेरी मूर्छा और मेरे भय को, तोड़कर अपनी राह जाता हुआ यह 'खोलो' अधजगी-सी मेरी चेतना पर आघात देकर लगा। 'खोलो !' तो कोई भीतर है, जिससे आशा है कि वह सुने और खोले ? कौन है जो खोलेगा, और वह कौन है जो ऐसे विश्वास के साथ आधी रात में द्वार थपथपाकर कहता है 'खोलो ?'

"मैंने पड़े-पड़े अँधेरे में आँखें फाड़कर दर्वाजे की ओर देखा। सन्नाटा ही सोते साँप की तरह साँस ले रहा था और पौर में अँधेरा घना होकर चुप खड़ा था। क्या उस अँधेरे में कोई है, कुछ है ? पर कुछ न था, अँधेरा ज्यों-का-त्यों फौजी संतरी की तरह अडिग,

अडोल, जमा खड़ा था। आराम की साँस लेकर तकिये पर सिर डाल फिर मैं लेट रहा।

"...सुकिया की वे आँखें कैसी थीं? अँधेरा होने पर भी जैसे कुछ देर दीखती ही रहती थीं। वह ऊपर ही सो रही है न?... सो ही तो रही है न? और मैं,—सो नहीं रहा हूँ, जाग रहा हूँ। सुकिया ने सुना होगा, 'खोलो!'...लेकिन यह किसने कहा है 'खोलो'?...

"हल्की-हल्की धीमी आवाज़ आई, जैसी दरवाज़ा खुलने में आ ही जाती है, बचाई नहीं जा सकती। मैं भय से चौकन्ना हो गया। हिम्मत न हुई पौर की ओर देखूँ, पर सारा शरीर कान बन कर उसी ओर लग रहा। शरीर पर काँटे उठ आये जैसे चेतना रोमों की राह फूटी उठ रही हो,—वे उग्र चैतन्य के साथ मानो द्वार की ओर टँक रहे।

"भीत साहस में मैंने उस ओर आँख करके देखा—अँधेरा हिल रहा था और वहाँ कुछ था। क्या था?—देखा, द्वार में से चाँद की किरणें आकर बाईं ओर की दीवार पर लम्बी होकर फैली हैं। जरूर दरवाज़ा खुला है और ज़रा खुला रह गया है, और उसमें से चोरी करके आती हुई यह चाँदनी की मोटी सफ़ेद लकीर अँधेरे को और काला बना रही है।

"उस तिमिरान्ध पट पर मेरे देखते-देखते दो आकार उभरने लगे। स्पष्ट से स्पष्टतर वे होने लगे। मैंने सहसा देखा उनमें एक स्त्री है एक पुरुष है। पुरुष ने स्त्री के कान में कुछ कहा। तभी देखा कोई तीसरा भी है जो पुरुष है। स्त्री ने हाथ उठाकर निर्देश किया और मैं देख उठा,—तीर के नोक की तरह स्त्री के हाथ की वह उँगली मेरी ओर तनकर टिक रही।

"मैं मुँह लोई के भीतर छिपा भी न सका। कलेजे को चीरती हुई भीतर से चीख निकली 'सुक्रो!' पर गले तक आते-आते घुटकर रुक गई, ध्वनि बनकर बाहर न निकल सकी। अपने भीतर आकण्ठ; अवरुद्ध प्रभञ्जन की भाँति अन्धाकाँक्षा में फूटने की राह माँगती हुई उस मूक चीख को लेकर मैं विकल हो उठा।

"इतने ही में वह उँगली वहाँ से उठ गई और मूर्तियाँ क्षण में हो विलुप्त गईं।

"मैंने आँख फाड़कर देखा,—और कुछ न था। चाँदी की किनारी की वह शुभ्र रेखा दीवार पर सीधो खिंची हुई बैठी थी।

"मैं चटाई पर सीधा हो बैठा, छाती को हाथ में लेकर बोला—'हाय राम!'

"किन्तु सुकिया के नीचे के सोने-वाले कमरे में कुछ था। मेरा मन सन्देह और ग्लानि से भर गया। अपना माथा मैंने दाबकर पकड़ लिया। छिः छिः! सुकिया लाल किनारी की साड़ी पहनती है, क्या अब भी पहन रही है?

"मैं लेट न सका, बैठा ही रहा। क्षोभ आता और विक्षुब्ध बनकर रह जाता। मैं उठ-उठ रहने को होता और बैठा रह जाता।

"उस कोठरी में से कुछ आवाज़-सी आने लगी। आवाज़ ज्यों-ज्यों बढ़ने लगी, मैं खड़ा होने लगा और एक निश्चय का उदय मन में होने लगा। सोचा, जाकर दरवाजे की कुण्डी लगा दूँ, फिर देखूँ क्या होता है।

"मैं उठकर चला। किन्तु जाते-जाते उस कोठरी के पास आया कि ठहर पड़ा। कान लगाकर सुनने से जान पड़ा, भीतर कुछ हो रहा है जरूर, किन्तु जान न पड़ा क्या। मैंने कहा, 'अन्दर कौन है?'

"सब सुनसान हो गया।

"मैंने कहा, 'अन्दर कौन है ?'

"और सब सुनसान रहा।

"मैंने दरवाजे में धक्का मारा, वह भीतर से बन्द था। मैं झपटकर दूसरे दरवाजे से गया। वह खुला था, पर भीतर किसी का पता न था। मैंने कहा, 'कम्बख्त चले गये !'

"अब तक कुछ न था, उत्सुकता-सी ही थी। अब विफलता से क्रोध उत्पन्न हुआ। उसी कोठरी में एक टूटा डण्डा-सा पड़ा दीखा। उसे उठा लिया और दरवाजे की ओर झपटा। किन्तु पाया,—पौर का द्वार बन्द था। और कुछ न देखा, और मैं लौट पड़ा।

"आँगन के पास आता हूँ कि देखता हूँ, वह सामने सुक्खिया है, और उसके दो साथी भी साथ हैं। सब अँधेरे में ऐसे मिल गये हैं कि अँधेरे का ही वस्त्र पहने हैं। मैंने कहा—'बदमाशो !'

"सुक्खो मानो दहशत से वहीं बैठ-सी गई। उनमें का एक मेरी ओर एक कदम बढ़ा। उसकी लम्बाई समझ में नहीं आती थी। वह मेरे सामने बड़ा ही होता चला गया। यहाँ तक कि एक दानव-सा लगने लगा। वह मेरी ओर आने लगा। हम पन्द्रह कदम एक-दूसरे से दूर होंगे, और वह दो मिनट तक लगातार स्थिर डग रखता हुआ मेरी ओर बढ़ता रहा। फिर भी मैंने देखा, वह मेरे पास नहीं आ पाता, वह उतनी ही दूर है।

"खतरे के सामने मेरी चेतना सम्पूर्ण सजग हो गई थी। खूब अच्छी तरह सोच सकता था। किन्तु, वह भय में आक्रान्त रही होगी। मैं भय-विकृत साहस से भर रहा था। मैंने कहा—'ठहरो।'

"किन्तु कोई ठहरा नहीं, और वह दानव वहीं रहता हुआ भी, कदम-कदम मेरी ओर आता ही रहा।

"मैंने देखा, उसके दायें हाथ की मुट्ठी में कुछ है। लगा, पिस्तौल है। फिर लगा, कुछ और है, बघनखा है।

"इस अनुभूति को उत्पन्न करके भय अपने-आप में इतना दुर्विसह्य हो उठा कि उसके नीचे अदम्य चेष्टा से भर रहने के अतिरिक्त मुझे और चारा न रहा। मेरे रोंये खड़े हो गये और मैंने डण्डा तान लिया।

"अब वह दानव रुक-सा गया।

"मैंने कहा, 'रह कम्बख्त!' और मैं आँखें मींच, डण्डा उठा, उस ओर भाग छूटा, जैसे मौत में मैं झुक पड़ने को छूटा होऊँ। पता न रहा क्या है, क्या नहीं है।

"और आप लोग हँसें नहीं, मेरा डण्डा जोर से दीवार में लगा। और वह लगा नहीं कि मेरा सिर उसी जोर से दीवार में जा टकराया। हाथ झनझना गया और सिर सन्न होकर रह गया।

"...और अगले रोज मैं ससुराल चला गया।"

: ६ :

"मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि कोई आदमी न था, चोर न था,—इसलिए अवश्य भूत ही था।

"यह भी मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि उस पहाड़-से भय के भारी बोझ के तले मैं कुछ देर और भी रहता तो जीता न रहता। सिर टकराकर मूर्छित हो जा सका सो ही जी सका।

"और मैं जानता हूँ कि अगर मैं कहूँ कि उस भयानक मनुष्यात्मक भूत का सृष्टि-कर्ता मैं था, तो यह गलत होगा। नहीं कहा जा सकता कि उसमें सुकिया का हाथ न था। इसी भाँति नहीं कहा जा सकता कि जिन्हें मैं जानता हूँ उन सबका किसी-न-किसी

तरह उसमें भाग न था। इससे उस भूत का सिरजनहार सबका सिरजनहार ही था।

"मैं अपनी कहानी कह चुका। अब आप उस पर क्या कहते हैं?"

डा० ज्ञान०—"कहानी बहुत ठीक है।"

मैं—"ठीक नहीं, मैं अच्छी चाहता हूँ।"

डा० ज्ञान०—"कहानी ठीक है, और अच्छा होना उससे भिन्न नहीं है।"

मि० माथुर—"कहानी तो खाक-धूल है! न सिर न पैर। लेकिन उस लाल पाड़ की धोती वाली सुकिया महरी को तो, विनोद, एक बार हमें भी जरूर दिखाना।"

●

अन्धे का भेद

: १ :

यह पचासी रुपये की मेज़ पारसाल खरीदी गई थी। बात यह हुई कि एक मित्र को शतरंज के बोर्ड की जरूरत हुई। वह शतरंज खेलना नहीं जानते थे, पर अपने सलाहकारों की आवश्यकता पर टुक ध्यान देकर, ५-७ रोज हुए, उन्होंने हाथी-दाँत के शतरंज के मोहरे खरीदे हैं। उसके लिए बोर्ड की कमी है। वह मेरे पास आए। चाहते थे कि वह जो काश्मीरी गेट में मेसर्स......की दुकान है, मैं वहाँ साथ-साथ चलूँ। बग्घी खड़ी थी, एक राय-बहादुर के साथ बाज़ार में होकर बग्घी में बैठे हुए निकलना बुरा नहीं मालूम हुआ। ऐसे काम के लिए तो मैं अपने किसी छोटे-मोटे काम का हर्ज भी कर देता, पर अभी तो एकदम हाथ में कुछ काम ही नहीं था।

मेसर्स......के यहाँ खुद लाला साहब ने चीज़ें दिखाईं; पर कुछ जँची नहीं। मित्र को तो बढ़िया चाहिए।

लाला साहब ने अर्ज किया, "फर्मायश पर बन सकती है।"

"ज़रूर बना दीजिए। एतवार तक मिल जाय।"

"......पेशगी ?"

दस पेशगी दे दिये गये। बाकी फिर दे दिये जायँगे।

दिन थे, मैं मेज पर पैन्सिल से लकीरें खींच कर शतरंज खेला करता था। मेरी जान में, इस कारण, कुछ कम अच्छी शतरंज नहीं खेली थी। पर अपने अनुभव को जताने का यह मौका नहीं था। अपनी ही ओछी होती। सुनकर रायबहादुर मित्र भी क्या सोचेंगे! इसलिए अपनी बात मैंने अपने मुँह में ही रखी, और मन-ही-मन शर्माने लगा।

तभी मेरी निराली निगाह इस पचासी रुपये की मेज पर पड़ी! कहावत है—'ऊँची दुकान, फीका पकवान।' यह कहावत ठीक तो है, पर ढंक ठीक नहीं। मैं इसका शिष्टरूप पसन्द करूँगा—'ऊँची दुकान, सजा पकवान'। अर्थ में तो अन्तर पड़ता नहीं; हाँ, दूसरा रूप सभ्य, शिष्ट और सुनने लायक जान पड़ता है। तो साहब, इस ऊँची दुकान पर पकवान तो नहीं, हाँ फर्नीचर खूब सजा-सजा लगा हुआ था।

पैसों की सुविधा होते ही ऐसा सामान, जिससे दूसरों की भी और अपनी भी आँखों में अपना गौरव बढ़े, इकट्ठा करने में मजा आता है, भीतर से जैसे एक शाबाशी मिलती है। जीवन की कृतकार्यता का यह भी एक जरूरी काम है।

फिर जो अभी एक तरह की शर्म उठ रही थी, उसे मिटाने के खयाल से थोड़ा-सा बढ़ने की इच्छा हुई। अपने को, दुकान-मालिक लाला-साहब और रायबहादुर को. सबको यह मालूम होना चाहिये कि मैं भी कुछ-कुछ बराबरी कर सकता हूँ।

शायद यह भी खयाल रहा हो, मैंने मेज पर निगाह डाल दी; इशारा करके कहा, "इसके क्या...?" छूटते ही लाला-साहब ने मेज

को झाड़-बुहार कर चमका दिया—दराज देखिए, यह आईना, यह जोड़ कैसा दिया गया, पालिश बिलकुल...., बड़ी उम्दा चीज है, आपकी निगाह ही...आदि-आदि अविराम बखान करके कहा, "जरूर ले जाइए। कुछ चीज मालूम होगी।—हाँ, १००) रुपये।"

मेरी ८५) से कम कहने की हिम्मत न हुई। अजी साहब, रायबहादुर साथ हैं। इसलिए लाला-साहब उनके सामने कुछ नहीं कह सकते। बाकी और किसी को १००) रुपये से एक पाई कम नहीं करते। चीज है...लेकिन...सारांश, वह ८५ की मेज मेरे यहाँ आगई।

यहाँ एक बात जरूर कह दूँगा। व्हाइटवे-लेडला के यहाँ ऐसी ही मेज देखी थी। पालिश और चमकदार थी। काम भी अच्छा ही होगा। १५०) में आती थी। मैंने नहीं ली। देशी फर्म रहते विलायती से क्यों लूँ? देशभक्ति—जो वक्त पर नफा पहुँचाती है, जो महँगी नहीं पड़ती—ऐसी देशभक्ति को मैं नहीं जाने देता हूँ। ह्वाइटवे-फर्म को मैं बहुत कम अपनाता हूँ। यह मैं भी जानता हूँ और औरों को भी जानता रहता हूँ।

पारसाल जबसे यह मेज आई है, तब से इसकी जोड़ की कुर्सी का अभाव अखरता है। यह बेंत की कुर्सी मेज के सामने जँचती नहीं, टेस्ट के खिलाफ है। कोई भला-मानस देखेगा, तो क्या कहेगा? स्प्रिङ्गदार घूमती हुई 'रिवाल्विङ्ग चेअर' हो तो, ठीक हो जाय। कुछ मेल की चीज तो दीखे।

जिन्दगी के ३२ साल ऐसी कुर्सी के बगैर कट गये हैं। अब समझ नहीं पड़ता, कैसे कट गये! अब तो जब-तब ध्यान उसके अभाव की ओर ही जाता है। आखिर नाम लेते-लेते, वह कुर्सी आज आई है। काली है, चमकदार सीट बड़ी उम्दा है, स्प्रिङ्ग

खूब उछलते हैं। मेज के सामने लगा दी गई है। अब कमरे की शकल कुछ बन गई है।

पैसे की सुविधा होने से रहता तो अच्छा है। पहले धरती पर ही कागज धरकर लिखता था। कैसी मुश्किल पड़ती होगी! अब आराम से लिखूँगा। सबेरे जो उस अखबार का तकाजा आया है, सो आज इसी कुर्सी पर बैठकर लिखूँगा।

खाना खाकर पलङ्ग पर लेट गया। श्रीमती पान दे गईं। पान चबाते-चबाते सोचा—थोड़ा १५-१० मिनट लेट लूँ, तब लिखना आरम्भ करूँगा। पर लेटा, तो लेख की बात सोचने लगा। क्या लिखना होगा? कुछ बात ही समझ में नहीं आती। ५-१० मिनट हो गये, और दिमाग़ शून्य ही रहा। उठकर बाहर छज्जे पर आया, आसमान देखा—इन चीलों की जगह, कोई उड़ती सूझ होती, तो अभी दिमाग़ से मारकर गिरा लेता और मसाला देकर सजाकर पेश कर देता।

मुट्ठी बाँधी, मुट्ठी खोली, कई काग़ज़ की चंपियों को गुड़ी-मुड़ी करके यहाँ-वहाँ फेंका, आसमान देखा, धरती देखी, कदम गिने—इस तरह न जाने क्या-क्या करते ५-७ मिनट होने पर मैं उस नई कुर्सी पर जा बैठा।

वह तो डेढ़ हाथ धँचक गई! मैं उछल पड़ा—उछल कर पड़ा वहीं मखमली कुशन पर। हलके २-१ गद्दे और खाये। यह बड़ा अच्छा लगा। कुर्सी का नया-नया स्वाद था, बहुत ही मन भाया।

भागते-उड़ते विचारों की चौकसी के लिए दिमाग़ को छोड़ दिया। हुक्म था—जो मिले, पकड़कर मेरी क़लम के नीचे डाल दो, मैं फिर उनका भोज बनाऊँगा। मैं भी चौकन्ना हो बैठा।

लेकिन मछली के शिकारियों-सा धीरज मुझ में नहीं है। अब

आए, अब आए—ऐसे कब तक घात लगाए बैठा जाय ? मैं तो थकने लगा, और मालूम नहीं, कब ऊँघ आ गई।

"अरे, यहाँ तो आ।" आवाज़ पड़ी, तो मैं चुप रहा। मालूम पड़े, जैसे काम में व्यस्त हूँ।

"यहाँ आ रे !—जल्दी।"

मुझे छुट्टी नहीं है, इस भाव से मैंने कहा, "क्या है ?"

"यहाँ आ, यहाँ आ—आ तो।"

"आया" कहकर थोड़ी देर लगाई। आखें ऐसी कीं, जैसे बड़े काम से उठकर आई हैं, और मैं नीचे उतरकर आया।

देखा—घर की सब औरतें और बाल-बच्चे और पड़ोस की भी दो-चार, एक वृत्त बनाये, बीच में किसी को घेरे खड़ी हैं। उत्सुकता हुई, उभककर देखा—सूरदास है। घर की प्रभुता की झोंक में कहा, "यह क्या तमाशा मचा रखा है !" मेरी माँ बोली, "अरे, बैठ तो, देख—देख।"

जो कुर्सी पेश की गई, उस पर बैठकर सूरदास को देखने लगा। अधेड़ आदमी है। पचास पर पहुँच रहा होगा। निपट अन्धा है। मारवाड़ी है। सिर पर चिथड़े हो रही पगड़ी है। रङ्ग साँवला-सा, मुँह बनावट में ठीक, अच्छा है, ऐसा नहीं कि उब-काई लो। घुटनों के कुछ ऊपर तक आई धुएँ-सनी धोती है। हाथ में टेकने की लठिया है, पैर में जबड़े निकालता हुआ जूता।

एकदम सब-के-सब उससे बोल रहे हैं। जिसकी आवाज़ सबसे ऊँची हो, उसी का कहा वह मानता है। एक लड़का चिल्लाया, "बाबा, बकरे की...।" सूरदास ने, "मैं—एँ—एँ—एँ" करके सबको हँसाया। मैं घबराया—कहीं बकरा ही तो नहीं आ गया !

"बाबा, बन्दर...!" कहते देर नहीं हुई कि उसी लड़के पर

बन्दर घुड़क पड़ा, 'गुड़...र्र-र्र'। बच्चा सहम गया, फिर हँस पड़ा।

इसी तरह मोटर चलाई—'प्वाँव ! प्वाँव ! हटो, हटो !'—गधे को, मुर्गे को बुलाया, और अपने को खूब तङ्ग होने दिया। लड़कों की एक बात न टाली; जो हुक्म हुआ, वही बात पूरी की।

फिर मेरी माँ ने कहा, "सूरदास तेरी घर-वाली कैसी थी ?"

सूरदास का मुँह खिंच आया, आवाज़ भारी हो गई, जैसे अभी रो उठेगा।

"ओहो ! सुभाव बड़ा अच्छा, नैहर गई है, ऐसे बोलती है, जैसे बागों में कोयल बोले। मैं खाता—थोड़ा खाता; कहती—और ले और, दे ही देती। ओहो ! सुभाव बड़ा ही अच्छा था। कुछ हो जाता, यों ढुमुक-ढुमुक रोती।"

वह भी दोनों हाथों से दोनों आँखों को मींजते हुए जैसे ढुमुक-ढुमुक रोने लगा। हम सब खिलखिला कर हँस पड़े। वह भी एकदम ठहाका मार कर हँस पड़ा।

मैं हृदयहीन नहीं हूँ। अपने हँसने पर शर्माता, पर जब वही अपनी पूरी हँसी से हँस बैठा, तो मैंने सोचा, यह अभिनय हँसने के लिए ही है।

"कोई ठण्डी-बासी, कोई लत्ता...।"

"लत्ता देंगे, पहले...।" मेरी माँ ने कहा, और तब उसने कैसे उसकी घर-वाली बाल धोती, मुल्तानी लगाती, चोटी करती, आटा गूँधती, उसके पैर दबाती आदि—सब का अभिनय ऐसे सच्चे भाव से, मुँह बना-बना कर, ज्यों-का-त्यों कर दिया कि हँसते-हँसते पेट में बल पड़ गये।

फिर, "बाबा, कोई सूखी-बासी...।"

कुछ रोटी दे दी गई। मेरे ट्रंक में से, मेरे हुक्म से एक फटी

कमीज दे दी गई, और सूरदास असीस देता हुआ चला। मेरा लड़का लाठी पकड़े-पकड़े मकान से बाहर उसे गली में अच्छी तरह पहुँचा आया।

फिर मैंने माँ की ओर मुखातिब होकर सब को सुनाते हुए कहा, "यह क्या तमाशा फैला लेती हो? ऐसे लोगों को क्यों अन्दर आने देती हो? भिखमँगे कहीं के!"

मेरा दिल पत्थर नहीं है; पर बात यह है कि घर की डोर मेरे हाथ में हाल ही साल दो-एक से आई है। और मुझे नई-नई होने के कारण, उस रस्सी को जब-तब ढीलने-तानने-खींचने का शौक है। अधिकार-उपयोग में बड़ा मीठा मजा होता है। लाट-साहब को लाट-साहबी में, शाह को शाहगीरी में, और जमादार और सिपाही को अपनी जमादारी और सिपाहीगीरी में जो मजा आता है, वही मुझे अपनी नई-नई घर की प्रभुता का प्रदर्शन करने में आता है। पर माँ को मेरे इस प्रभुत्व का जरा भी खटका नहीं रहता। जब मैं तनता हूँ, तो वह ओठों-ओठों में जरा मुस्करा पड़ती हैं।

माँ ने कहा, "अरे भाई, गरीब है, आ जाता है, चलो, बच्चे हँस लेते हैं। अपना क्या जाता है, दो रोटी ही तो। फिर भइया, दीनों की असीस क्या सब को मिलती है?"

सो तो सब ठीक, पर मैं हार नहीं सकता, कहा—

"गरीब तो है, लेकिन..."

माँ ने कहा, "अच्छा-अच्छा।" और मुझे चुप हो जाना पड़ा।

उस रोज लिखना नहीं हुआ। सम्पादक जी को लिख दिया, "अनवकाश है, जल्दी ही भेज दूँगा।"

: २ :

एक रोज वह अन्धा गली में फिर मिला। लड़कों की टोलियों से घिरा हुआ उन्हें हँसाता खुश करता हुआ चल रहा था। एक लड़के ने अपने घर चलने का उसे निमन्त्रण दिया है, और वही उसकी लाठी पकड़े अपने घर ले जा रहा है। वह वहाँ वैसी ही बोलियाँ बोल देगा, मोटर चला देगा, अपनी घर-वाली की बातें सुनाकर उन्हें हँसा देगा, और फिर दो-एक रूखी-सूखी जो पाएगा, ले आएगा। उसका यही व्यवसाय है, और वह इसी में सुबह-शाम एक कर देता है।

वह गाता भी है। घर बैठे-बैठे एक दिन तान सुन पड़ी, "ऊधौ, या जग कोई न मीत।" जैसे कोई अच्छे स्वर और अच्छी आवाज से ही नहीं, अच्छे हृदय से भी गा रहा हो। जानना चाहा, यह गाने वाला कौन है। मेरे बच्चे ने आकर, ताली बजा कर, खबर दी, "बाबा है, बाबू जी। बुड्ढा—बाबा—सूरदास!"

मेरा कौतूहल नहीं रुका, पहुँचा। पास ही मकानों से घिरा जो एक चौक है, उसके बीचोंबीच पलथी मार कर सूरदास आलाप रहा है। हाथ की लाठी से कभी पत्थर की फर्श पर ठनकार देता है, कभी हाथ को जाँघ पर मार कर ताल देता है।

"ऊधो, या जग कोऊ न मीत।"

सूरदास की आवाज में मिठास है, लोच है, कँपकँपी है। उस की गूँजन जी को गस लेती है। लेकिन मैं ज्यादा ठहरा नहीं, लौट आया।

तब से सूरदास का सामना होना मैं नहीं चाहता। देखकर कुछ सुख नहीं मिलता। घर में भी कह दिया, "देखो, उस अन्धे को जो देना हो दे दो, पर घर में ज्यादा बैठाने की जरूरत नहीं।"

लेकिन मालूम होता है, जिन्दगी के आखिरी दिन तक कभी मेरा हुक्म माँ पर नहीं चलेगा। एक रोज बाजार से लौटा, देखता हूँ, "वही जमघट जमा है। सूरदास नया गीत उड़ा लाया है और उसी को गुँजा रहा है। यह खड़ छन्द का गीत, क्या अचरज, उसी का बनाया हुआ हो।"

"एकसे सावन भी और जेठ...।"

इस बुढ़ाई के तत्त्व-ज्ञान से मैं बहुत चिढ़ता हूँ। यह ऐसे भिखमंगे जबरदस्ती हमसे दया छीन लेना चाहते हैं। इस तरह पिघल कर रुपया देना या दया देना समाज-तन्त्र के किसी भी नियम में नहीं लिखा है, किसी तरह भी हम पर आयद नहीं है।

बात यह है कि अन्धे को देखकर जो असन्तोष उठता है, वह मेरे प्रभुत्व-दर्प के हाथ में पड़कर न-जाने किस मानसिक प्रतिक्रिया से रोष बनकर बाहर निकलता है। मैंने उस पर रोष करना चाहा, पर उस अन्धे ने परमात्मा के नीलाकाश में अपनी अन्धी आँखें गाड़ कर सुस्निग्ध कंठ से गाया—

"जेठ नाहिं सूखे, औ' सावन नाहिं बरसेउ।"

व्यथित कंठ से निकला, बिना देखे परमात्मा को निवेदन-रूप में भेजा गया यह गान मेरे रोष के ऊपर फैल गया। इस अकिंचन सूरदास पर रोष कैसे उतरे?

"सूरदास, गाना खतम करो, सुनो।" मैंने कहा। वह रुका, एक झटके-से हँसा। शायद हँसी का झटका देकर वह अपने को मेरी बात सुनने योग्य मनःस्थिति में लाया। बोला, "हाँ, जी।"

"इतनी सारी रोटी माँग कर तू रोज ले जाता है, सो क्या तू अकेला खाता है?"

एक दिन मैंने उसे बकुचा-भर रोटी होने पर भी माँगते देखा था।

सूरदास ने कहा, "नहीं तो! अपने लिए किस मुँह से माँगूँगा!"

तब मेरी माँ ने बताया, "इस के दो लड़के हैं, एक लड़की है। एक लड़का कभी-कभी लाठी लेकर इसे राह बताता है। बड़ा स्कूल में पढ़ने जाता है। बच्ची सब से छोटी है, घर ही रहती है।"

"तेरा घर कहाँ है रे?" मैंने पूछा!

"क्लाथ-मिल के पीछे कलियों के रहने की जगह है, वहीं एक कोठरी मेरी है।"

"मैं एक रोज आऊँगा।"

सूरदास ने बिना संकोच कह दिया, "आना जी।"

मैंने देखा, वह मेरे आतिथ्य की बात सोच रहा है। मैं समझ गया, वह सोच रहा है कि आतिथ्य में कुछ भी उठा न रखूँगा। कैसा भिखारी है, अतिथाई करेगा! लेकिन देखा, एक-न-एक रोज इसका आतिथ्य पाना ही होगा।

: ३ :

आज दिन-भर बारिश हुई है। शाम होने आई, तब कहीं सूर्य दिखा है। बड़ी सुहावनी धूप मालूम होती है। बारिश के बाद धूप निकलने पर जैसे चींटियों की लँगार यहाँ-वहाँ, दिखाई पड़ती है, वैसे ही छज्जे पर से, घरों में से निकल कर आदमियों की कतारों-की-कतारें, चलती-फिरती दिखाई देती हैं। लिखते-लिखते सिर भन्ना गया है। कहीं बाहर चलने की सूझी। सूरदास के घर की याद आई। वक्त भी अच्छा है, अभी घर ही मिलेगा।

दइमारे लोगों के मुहल्ले में पूछते-जाँचते एक बन्द दरवाजे पर आ खड़ा हुआ। जिन्हें दैव ने ही मारा, उन्हें म्युनिसिपैलिटी भी क्यों न मारे! इसलिए यह मुहल्ला म्युनिसिपैलिटी के सिर पर गधे के ताज जैसा, सजाने लायक बन गया है। गद्दों, कुर्सियों, पंखों और न जाने किस-किस से सँवारे हुए म्युनिसिपल-हाल में जहाँ कुछ छँटे-छँटे आदमी पार्टियाँ और बहसें उड़ाने के लिए जमा हो जाते हैं, अगर इस मुहल्ले का नरक ले जाकर पटक दिया जाय, तो बड़ा शिक्षा-प्रद दृश्य बन जाय!

बन्द दरवाजे को खट-खटाया। वह खुला नहीं, भीतर से बन्द था। पास के एक कुली से मदद माँगी। उसने किवाड़ पर थपकी देकर कहा, "बिन्नो!"

इस पर किवाड़ खुले। और, जिस बिन्नो ने किवाड़ खोले थे, वह मुझे देखते ही भीतर भाग गई।

नौ वर्ग फीट का कमरा होगा। हवा के लिए यही दरवाजा है, जिसमें से मैं घुसा। किवाड़ों की दरारें इस तरह सौभाग्य बन उठी हैं, क्योंकि किवाड़ बन्द होने पर उन्हीं से हवा आती-जाती है। एक कोने में घड़ा रखा है, एक तसला लोहे का, जैसा जेल में मिलता है, ऊपर ढँका है, एक थाली नीचे रखी है, पास ही एक शकोरा है। एक तरफ एक खटिया है, जिसके बान भूल कर धरती को छूने वाले ही हो रहे हैं। उस पर कुछ गूदड़ ढेर हो रही है। उसी से एक दरजे उतर कर या चढ़ कर नफ़ीस गूदड़ खाट के बराबर में फैल रहा है। और कोई वर्णनीय बात इसमें नहीं है। एक दो लाठियाँ, कुछ हाँडियाँ और एक दो पोटली उस कीचड़ के रंग के बिछौने के पास रखी हैं।

बिन्नो इस बिछौने पर ही आकर, आँख मींच-कर, लेट गई है।

मेरा-जैसा चश्मे-वाला साफ़-सफ़्फ़ाक, बनाया-सँवारा आदमी महल छोड़कर यहाँ आया है, तो जरूर कोई प्रलय होने वाली है। कुछ ऐसे ही डर से विन्नो यों दुबक रही है।

"विन्नो !"

देखा, यह साफ़, सुपरिधानित किसी अपर-लोक का जन्तु उसी की बोली में उसका नाम ले रहा है, और आँखों पर चढ़े चश्मे में से उसकी ओर देख रहा है! उसे साहस हुआ।

"विन्नो, डरती हो ?"

जिस लहजे से यह कहा गया, उसने विन्नो का सारा डर भगा दिया। वह आगे बढ़ आई, सामने खड़ी हो गई, बोली, "नहीं।"

उस वक्त वह सामने खड़ी लड़की बुरी नहीं मालूम हुई। आँखें बड़ी-बड़ी कटोरे-सी हैं, जो हिरनी की तरह या तो निश्चल विश्वास और प्यार से या डर-आशंका से ही देखना जानती हैं। उमर आठ बरस से ऊपर होगी। रंग उज्ज्वल गेहुआँ है, पर उस पर मैल की कलौंस लग रही है। दुबली है। टाँगों में छींट की घघरिया है और कमर पर बण्डी के नाम पर कुछ चिथड़ियाँ। बदन पर खरौंच लग रही है, मालूम होता है, बहुत खुजाने का परिणाम है। सिर के बाल चीकट सन-सरीखे हो रहे हैं।

मैंने उसका हाथ पकड़ा, खटिया के गूदड़ को जरा समतल किया और उसकी खटिया पर बैठ गया। विन्नो को गोदी में लिया।

"विन्नो, तेरा अन्धा बाप कहाँ है ?"

विन्नो बड़े आराम से गोदी में बैठी है। यह सौभाग्य जैसे कभी उसे मिला था, अब दो सालों से नहीं मिला। वह जैसे अपना ही मुझे मानने लगी; बोली—

"अम्मा के गये होंगे।"

"अम्मा के! कौन अम्मा? कहाँ है?"

"यहीं हैं। बाबा हर सातवीं शाम को जाते हैं।"

"अभी तो बारिश थी।"

"कुछ हो, वह तो जाते हैं।"

इन सब बातों को सुनकर मैं अचरज में पड़ रहा था।

"अम्मा कहाँ रहती हैं, क्या करती हैं?"

"सो नहीं जानती। पिछले बार गई थी। रहती हैं, और क्या करतीं—कुछ नहीं करतीं। खूब अच्छी-अच्छी रहती हैं। अम्मा मेरी अच्छी रहती हैं। तुम्हारे जैसे कपड़े पहनती हैं, और रोती हैं। मैं गई, तो मुझे चिपटा कर बहुत रोईं।"

यह तो बड़ा अद्भुत संवाद सुना। मेरा औपन्यासिक कुतूहल पूर्ण वेग से जाग उठा। पर मैं बहुत-कुछ पूछ-पाछकर भी नहीं पता लगा सका कि अम्मा कौन हैं, क्या हैं, कहाँ रहती हैं, क्यों रहती हैं? यही पता मिला कि अच्छी रहती हैं, सजकर रहती हैं।

इस अन्धे के इतिहास के चारों ओर जो भेद की तह-की-तह लिपटी हुई हैं, उसमें एक को छेड़ा है, तो अब सबके भीतर तक पहुँचे बिना चैन नहीं मिलेगा।

एक कुली को मैंने खाट लाने का हुक्म दिया। उस कुठरिया के बाहर खाट पर बैठ गया, और सूरदास के बारे में जानकारी पाने की टोह में लगा।

पर लोग कुछ ज्यादा न बता सके। जो छोटा लड़का उसके साथ रहता है, उससे पता लग सकता है। वे खुद इतना ही जानते हैं कि रोटी माँग-माँगकर लाता है, और शाम को आता है। रात को उन लोगों को वह कभी गाना सुनाता है, कभी कहानियाँ। सबेरे

उठते ही अपने चक्कर पर चल देता है। बस दोपहर को एक बार लड़की-बच्चों की खबर लेने आता है। वह जब से जानते हैं तब से यही नियम है। चाहे बीमारी हो, चाहे वर्षा; इसमें फर्क नहीं पड़ता। हाँ, इतवार की शाम को वह जरूर देर से आता है।

इस सबसे मिला तो कुछ नहीं, उत्सुकता और बढ़ गई। तभी उसका सबसे बड़ा लड़का वहाँ आया।

सिर पर जरा पुरानी फैल्टकैप है, पैरों में कलकत्ते का स्लीपर। बहुत ज्यादा लटकते कालरों की कमीज और चौड़ा फैला पायजामा। बालों में तेल भी है, कढ़े भी हैं। चौदह वर्ष का होगा। सातवें दर्जे में पढ़ता है। भरसक इसने अपने पिता सूरदास से अपना जाहिरी सम्बन्ध बिलकुल मिटा डालने की चेष्टा की है। सचमुच देखकर मेरी हिम्मत नहीं हुई कि इसे भिखारी की सन्तान समझूँ। यह अपने बाप के अस्तित्व पर शर्माने लगा है। अन्धे की कमाई का आधे से ज्यादा भाग इसकी शिक्षा और शृंगार में खर्च होता है। लेकिन यह उसके लिए कृतज्ञता का पर्याप्त कारण नहीं है। कहीं और जगह होता, तो ऐसे रहता! वही लड़का गोविन्द मेरे सामने आया, और ठिठक कर रह गया।

मैं उसके पसन्द का आदमी था; पर उसके घर पर ही बैठा हूँ, सब हाल जानता हूँ, इसलिए उसकी नापसन्दगी का भाजन बन गया।

मैंने पूछा, "भई, तुम्हारे पिता...."

"मुझे नहीं मालूम।" बात काटकर ही उसने जवाब दे दिया।

मैंने प्यार से उसकी पीठ थपकी, उसे जरा अकेले में ले गया।

"भई तुम्हारे पिता हैं?—नहीं बताओगे?"

उसे सचमुच का संकोच था। कैसे कहे?

"तुम्हारी अम्मा...?"

गोविन्द ने हाथ जोड़कर कहा, "बाबूजी, आप जानते हों कुछ, तो, हाथ जोड़ता हूँ, किसी से कहिएगा नहीं।"

"भई, मैं जानता-वानता कुछ नहीं। जानना चाहता हूँ। बताओगे नहीं?"

"बाबूजी, हाथ जोड़ूँ, मत पूछो।"

"नहीं-नहीं, डरो मत। कोई बात नहीं। अच्छा, जगह बता दो।"

"बाबूजी, देखो, किसी से कहना नहीं। मेरी मौत हो जाय जो कहो। चावड़ी बाज़ार में...। पर बाबूजी, माँ जो है सो है—बुरी नहीं है। हमें प्यार करती है।...हमारा खर्च...।"

लड़के को ज्यादा कष्ट देना ठीक न समझ, बिन्नो को कुछ दे, मैं चला आया।

: ४ :

जहाँ कभी नहीं गया, वहाँ गया। जो न करना था, किया। लेकिन उसका पता न चला सका।

इतवार को उस अन्धे की प्रतीक्षा में खड़ा हूँ। इस रास्ते न आया, तो अगले इतवार को दूसरे रास्ते पर इन्तज़ार करूँगा। जो हो, उसके जीवन की कम्बख्ती का हाल तो मालूम ही करना होगा।...लेकिन वह तो वह आ रहा है। मालूम होता है, यही उसका छोटा लड़का है,—वह जो थकान के भाव से लाठी पकड़े उसे लिये आ रहा है।

जहाँ नीचे दर्जे की......रहती हैं, जिनमें मिट्टी का दीवट

जलाया जाता है, वहाँ एक मैले-से ज़ीने के आगे वह लड़का खड़ा हो गया।

सूरदास अब आगे होकर ज़ीने पर चढ़ा। लड़के ने अपने शरीर से ज़ीने को ढाँके रखा,—कोई देखे नहीं। फिर, देख-दाख-कर, लड़का भी चढ़ गया। ज़ीना बन्द कर लिया। मैं वहाँ पहुँचा, थपथपाया।

ऊपर से किसी ने झाँका, "क्या आप ठहर सकते हैं?"

मैंने कहा, "नहीं।"

यहाँ मेरे-जैसे लोग आते नहीं। मैं आ ही गया हूँ तो काफ़ी अच्छी कमाई का ज़रिया हो सकता हूँ। यहाँ-वालियों को पैसे की उतनी ही तंगी रहती है जितनी भिखारियों को। इससे मना करते उससे बनता नहीं; हाँ करे तो कैसे?

मैंने ज़िद की, तो उसने ज़ीना खोल दिया। ज़ीने के पास ही, कोठरी से लगा हुआ एक छोटा-सा बरामदा था। कहा, "आप, यहाँ थोड़ी देर बैठें तो बड़ी मेहरबानी हो। हाथ जोड़ती हूँ।"

मैंने कहा, "क्यों कौन है?"

"अजी, एक अन्धा भिखारी है।"

"अन्धा भिखारी!—क्यों, वह कौन है?"

"अजी, आप नाराज़ न हों। आपकी नाराज़गी के लायक़ नहीं।"

"तो मैं भी कमरे में ही बैठता हूँ। क्या कहती हो?"

उसने खुशी से कहा, "हाँ-हाँ"—फिर कहा, "लेकिन आप बोलें नहीं। अन्धा फ़क़ीर है, मुझे राह पर लगाना चाहता है। उसका पुराना एहसान भी है। उसका कहा मानना पड़ता है। कुछ देखें, तो ताज्जुब न करें।"

कमरे में एक पुराने स्टूल पर मैं बैठ गया।

कमरे में कोई खास बात नहीं है। एक अच्छी-सी खाट है, जिस पर सफ़ेद चादर बिछा है, दो-एक तकिये पड़े हैं। यहाँ छोड़-कर सफ़ेदी और कहीं नहीं। फ़र्श पर मैला टाट है। दो-एक मोढ़े हैं। एक राधा-किशन की तस्वीर है, एक कलैंडर। एक लालटैन, दीयट, मिट्टी के कुछ खिलौने, काग़ज़ के फूल, पानदान, सुराही और काँच का गिलास—ये चीज़ें और भी टँगी या रखी हैं। सनी रेशम की एक साड़ी चुनी हुई, एक झालरदार ब्लाऊज़—ये खूँटियों पर टँगे हैं। इस अमीरी की बनावट की एक-एक बात में ग़रीबी मानो फटी पड़ती है, और विलास का लिबास पहनकर दुःख मानो सिसककर रो रहा है।

वह सँवारी हुई, साधारणतः सुन्दर है। ३२ वर्ष की अवस्था होगी, देह झुरती जा रही है; पर अब भी उसमें बहुत कुछ है। इस नारी के चेहरे पर, इस वातावरण में भी, कुछ वह है जो समझ नहीं पड़ता, मानो यह यहाँ भूल से आ पड़ी है, और भूल से ही रह रही है।

उसने दिए को तेज़ कर दिया, मुझे भुला दिया, सूरदास का हाथ पकड़ा, "आओ।"

दोनों बराबर घुटनों के बल बैठ गये। लड़का भी वैसे ही आ बैठा। सब ने हाथ जोड़े, ऊपर को देखा।

तब स्तब्धता छा गई। घड़ियाँ सुन्न हो गईं। हवा ठहर गई, मानो अब आत्मा बहेगी—चुप हो जाओ।

सूरदास के कण्ठ से तब आत्म-ध्वनि निकली, "मालिक, हम बड़े पापी हैं। कितनों को तुमने उबारा है। क्या हमें भी उबा-रोगे?—पर कैसे कहूँ? मालिक, तू सब जानता है, कोई बात तुझ

से छिपी नहीं। क्या तू नहीं देखता? मालिक, हम दोनों बड़े गरीब हैं, तेरे ही बच्चे हैं; रोज़ भूला करते हैं, पर तुझे ज़रूर याद करते हैं। मालिक! हे मालिक मेरे! तू भी हमें भूलियो मत, नहीं तो हम कहीं के नहीं रहेंगे।"

"मालिक, रोटी मिलने में अब मुश्किल होती है। देह बूढ़ी हो चली। अब तेरे पास, तेरे चरणों में आना चाहता हूँ। जल्दी चाहने का हक़ नहीं है, तो भी मालिक, जल्दी करना, जल्दी ही उठा लेना।"

तब वह बोली—क्या देवी न कहूँ उसे?—

"तुम्हें मैं नहीं जानती, मुझे तो धरती पर यह मालिक मिला था, इसी की मैंने अपने हाथों से आँखें फोड़ दीं। हाय! पर यह कहता है, तभी से मुझे सच्ची आँखें मिलीं। तभी से इसने मुझे तुम्हें याद करना सिखाया। क्या तुम, सच, पापों को माफ़ कर देते हो?—ऐसे पापों को भी? मुझे भरोसा नहीं होता। पर यह कहता है, विश्वास करने से सब-कुछ होता है। ओ मेरे परमात्मा! मुझे, कह दे, माफ़ कर दिया। मेरा अन्धा तो सब-कुछ माफ़ कर देता है, वह देखता तो है नहीं, बिना देखे माफ़ कर देता है। तुम देखते हुए कहो, माफ़ कर दिया। तब मेरे जी को ठण्डक मिलेगी। नहीं तो वह ऐसा जलता है कि मैं मरी जा रही हूँ। कहाँ बैठी हूँ—तुम देखते हो; मैं भी देखती हूँ। मैं यहाँ से उठ जाना चाहती हूँ। जितना जीना तुमने बाँध दिया है, उसमें से काट नहीं सकती। मुझे जल्दी उठा लो, यही चाहती हूँ।"

दो मिनट तक फिर वे धरती पर माथा टिकाये पड़े रहे। उठे, गले मिले। स्त्री रो पड़ी। सिर पर थपकाते हुए अन्धे ने कहा, "घबरा नहीं, घबराते नहीं हैं। छिः, घबराते हैं?"

वह चलने लगा, वह पैर' में पड़ गई, "मेरे मालिक !"

"हें-हें, मालिक एक है, बस एक मेरा भी, तुम्हारा भी, सारे जगत् का। बाकी सब ढकोसला है। उठ-उठ।"

हठात् विदा लेकर वह चल दिया।

कई मिनट छज्जे पर खड़ी वह देखती रही। फिर लौटी, मुझे देखकर चौंकी, और, और मेरे पैरों में पड़ गई।

"मुझे माफ कीजिये। मैं...मैं..."

मैंने दस का नोट निकाल कर दिया।

"ओह, नहीं-नहीं। नहीं। मैं मर जाऊँगी, नहीं लूँगी।"

मैंने कहा, "उठो," और उसे उठाया।

मैंने तब झुककर उसके पैरों में हाथ लगाया। वह पीछे को हट गई।

"मुझे तुम क्या समझती हो ?"

"माफ कर दीजिये।"

"ये दस रुपये तुम्हें रखने पड़ेंगे।"

हिचकिचाहट—संकोच।

"एक भक्त की भेंट...।"

फिर भी वही।

"गोविन्द के..."

"क्या आप जानते हैं...?"

"कुछ नहीं। मैं धन्य हूँ अगर आप बतला सकें।"

"अपने पापों को परमात्मा के आगे गिन और गिना चुकी हूँ। उन्हें दुहराने से डरती नहीं। पर न पूछें।"

"न कहिये। मैं जरा हठ न करूँगा।"

उन्होंने दस रुपये ले लिये। मैं उनका मानसिक चरण-स्पर्श लेकर चला।

: ५ :

फिर वह घर पर बुलाया गया।

बच्चे ने कहा, "बाबा, बन्दर बुला दे।"

उसने 'गुर्र-र्र' कर दिया।

दूसरे ने कहा, "गधा...!"

उसने मुँह ऊपर उठाकर रेंक दिया।

इसी तरह सब के बाद मेरी माँ ने कहा, "बाबा, तेरी घर-वाली!"

उसने वही अभिनय किया। फिर उसी तरह ठहाका मार-कर हँस दिया। फिर—

"माई, कोई लत्ता-टुकड़ा..."

मैंने कहा, "बाबा, हमारे यहाँ रहे तो कैसा? बच्चों को मैं पढ़ा दूँगा। तू द्वार पर चौकसी करना।"

अन्धे ने कहा, "न-अ, जो भुगतना है सो तो भुगत डालना ही चाहिये। अब बचोगे तो फिर भुतगना होगा। भुगतना तो होगा ही, बच न सकोगे। इससे अपने साथ छल करना ठीक नहीं।"

इस सड़ियल फिलासफी पर मैंने अपना माथा ठोका। फिर भी उस सूरदास को पुण्य-पुरुष ही माना।

मैंने कहा, "तेरी मर्जी, पर शाम को तेरे यहाँ आऊँगा।"

"बाबू, जरूर आना। हमारा कहाँ किसी को खिलाने का भाग है?"

मैं अगले रोज पहुँचा, यहाँ-वहाँ की भीख की थोड़ी रोटी खाकर अपने को धन्य किया। लेकिन घर-वाली की चर्चा नहीं छेड़ सका।

फिर भी मैं उस भेद से घिरे इतिहास को जानने को भूखा हूँ। आप लोगों में से क्या कोई देवी के पास से वह इतिहास ला सकता है? मेरी तो हिम्मत नहीं होती।